प्रकाशक—
गिरिधर शुक्ल
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
१३१, चित्तरञ्जन एवन्यू,
कलकत्ता।

मुद्रक—
रामदेव झा
नेशनल लिटरेचर प्रेस,
१०६ काटन स्ट्रीट,
कलकत्ता।

विषय-क्रम

"परदा" पुस्तकके सम्बन्धमें

पं० जवाहरलाल नेहरू की राय
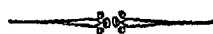
प्रिय गिरिधर शुक्ल जी,

आपकी भेजी-हुई "परदा" पुस्तक मुझे मिली, उसको पढ़ने का काफ़ी समय तो मुझे मिला नहीं लेकिन इधर-उधर उसको देखा। परदेका रिवाज़ हमारी स्त्रियों के लिये और समाज के लिये बहुत हानिकारक है और यह ख़ुशी की बात है कि यह अब कम हो रहा है! फिर भी हमको पूरी कोशिश इसके ख़िलाफ़ करनी चाहिये। इस पुस्तक से परदेकी ख़राबियाँ लोगोंको मालूम होंगी, ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है। मैं आशा करता हूं कि इस पुस्तक को बहुत पढ़ने वाले मिलेंगे।

आनन्द भवन
इलाहाबाद
ता० ३-९-३६

भवदीय—
जवाहरलाल नेहरू

श्रीमती जानकी देवी बजाज

आप स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज की धर्मपत्नी हैं आप ही ने भूमिका लिखकर इस पुस्तक का गौरव बढ़ाया है।

प्रस्तावना

मैं न लेखिका हूं और न विशेष पढ़ी-लिखी ही—यह जानते हुए भी भाई सत्यदेवजीने मुझसे अपनी इस पुस्तककी भूमिका लिखनेका आग्रह किया। आपका आग्रह मेरे लिये आज्ञाके समान है। इसलिये मैं असमंजसमें पड़ गई कि क्या करूं? फिर आपने लिखा कि मेरा अनुभव और उदाहरण अन्य बहिनोंके लिये उपयोगी हो सकता है। आपकी इस बातमें मुझको कुछ सचाई प्रतीत हुई और जोर भी, क्योंकि आप जानते हैं कि मैं भी कभी परदा करती थी और कठोर परदेके भीतर पुरुषोंकी दृष्टिसे बहुत दूर रहती थी। मैंने आपके सामने ही परदेका त्याग किया है। इसलिये यह समझ कर कि वे आप मेरे अनुभव दूसरोंके सामने रखना चाहते हैं, मै कुछ लिखनेके लिए तैयार हो गई।

मेरी भी कभी यह धारणा थी कि परदेसे स्त्रियोंकी लज्जा, विनय और मर्यादाकी रक्षा होती है। पुरुषकी विषैली दृष्टिसे उनको बचना चाहिये। इसलिये पहिले-पहिल जब मुझसे परदा त्यागनेके लिये कहा गया, तब ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मेरे चारित्र्य पर कोई आघात किया गया हो। परदा त्यागनेकी बात सुनते ही मैं कांपने लग जाती थी। जन्मके साथ मनमें घर किये हुए संस्कार बहुत प्रबल थे। परदेकी हानियां तथा उसको त्यागनेके लाभ जानते और महाराष्ट्र महिलाओंके अभिनन्दनीय व्यवहारको देखते हुए भी

परदा दूर करनेका साहस मुझको नहीं होता था। श्रीबजाजजीकी विचारशीलता और सत्प्रवृत्तिमें मेरी अटूट श्रद्धा थी। इसलिए कष्ट अनुभव करने पर भी पतिपरायणताके कारण मैं परदा त्यागनेके लिए तैयार हो गई। नागपुर कांग्रेसके अवसरपर १९२० में घूंघट छूट-सा गया था, परन्तु अपने समाजकी पगड़ी देखते ही मनमें फिर भय छा जाता था और परदा करनेको आप ही आप हाथ ऊपर उठ जाता था। इस कठिनाईको पार करनेमें अधिक समय नहीं लगा। अब मैं अनुभव करती हूं कि मैं कैसी भ्रान्त धारणामें फंसी हुई थी। यह धारणा पुरुषोंके लिये अपमानास्पद और स्त्रियों की आत्माको दुर्बल बनानेवाली है। दुर्बलतामें लज्जा, शील, मर्यादा और सच्चरित्रताका विकास नहीं हो सकता। परदा दुर्बलताको पैदा करता है। इसलिये उससें स्त्रियोंके सद्गुणोंकी रक्षा नहीं हो सकती। अपने अनुभवसे मैंने यह अनमोल शिक्षा ग्रहण की है कि विनय या नम्रता और झूठी लज्जा ये दोनों एक नहीं हैं। नम्रता वीरांगनाओं और वीर पुरुषोंका भूषण है। झूठी लज्जा उस भूषणको दूषण बना डालती है। सच्ची लज्जा, यथार्थ शरम या स्वाभाविक शील व्यवहार और आंखोंमें रह सकता है, परदेमें नहीं। मैं देख रही हूं कि परदा दूर करनेकी छोटी-सी घटनाने मेरा काया-पलट कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं नयी दुनियामें आ गई हूं। जब परदा करती थी, तब जीवनका कोई महत्व मालूम नहीं होता था। अब जीवनका कुछ महत्व मालूम होता है, गृहस्थी के कामकाजमें विशेष रस अनुभव होता है और दुनियाके व्यवहारको समझनेकी इच्छा होती है। अब नाना तरहके जेवर पहिननेकी इच्छा नहीं होती। सादगीमें सुख और प्रतिष्ठा मालूम होती

है। जेवर पहिननेमें दुःख जान पड़ता है। जेवर सम्भालनेकी चिन्ता भी कुछ कम न थी। कहीं खो न जाय, टूट न जाय, टूटे तो जुड़ाओ, मैला हो जाय तो साफ कराओ और जोड़ीमें कुछ कम हो जाय तो सूटके साथ बूटकी तरह उसे जमाओ। हमेशा यही विचार रहता था कि किस कपड़ेके साथ कौन-सा आभूषण अच्छा लगेगा। साज-श्रृङ्गारके पीछे सुनार, मनियार, कंगारा, लखारा, बिसाती, धोबी, मोची और नाइन आदिका सदा ध्यान बना रहता था। घूंघटके साथ इस सब झंझटसे भी छुटकारा मिला। मनको यथार्थ शान्ति मिली। मेरे जीवनके इस परिवर्तनमें मुझको आश्रमके सहवास और वातावरणसे भी बहुत सहायता मिली है।

परदा छोड़नेमें पुराने विचारके सास-ससुर, जेठ-जिठानी आदिकी ओरसे सबसे बड़ी कठिनाई खड़ी की जाती है। घरमें पूरी कलह मच जानेकी संभावना रहती है उनका हृदय वास्तवमें दुःखी हो जाता है। कभी-कभी वे मर्मान्तक वेदना अनुभव करने लगते हैं। उस समय अपने मनमें भी कमजोरी पैदा हो जाती है। पर, यही तो परीक्षाका समय होता है। हम अपने कार्य तथा सिद्धान्त में दृढ़ रहें, बड़ोंके प्रति सदा नम्र रहें और उनकी सेवामें कोई कमी न आने दें, तो उनका विरोध, वेदना और दुःख सब दूर हो जाता है। गृह-कलह पैदा होनेका कोई अवसर नहीं रहता। अपितु पहिले की अपेक्षा वे अधिक प्रेम और स्वयं संकोच करने लगते हैं। मेरे परिवारमें ऐसे कई पुरुष हैं, जो परदेको बुरा मानते हुए भी मेरे साथ बात करनेमें संकोच करते हैं। सामने आते हैं तो सिर नीचा कर लेते हैं। हमारे घरके 'जोशी' कहा करते थे कि मुझसे बात

करोगी तो मुझको गांव छोड़ कर भाग जाना पड़ेगा। घरके पुराने भैया छोटूजीके आस-पाससे कभी निकलती थी, तो उनके मुखसे सहसा यह शब्द निकल पड़ते थे कि 'हे भगवन्। मैं कहां चला जाऊं? यहां कहां आ फंसा?' पर, अब सब प्रेम और आदर करते हैं। घूंघट न करने या परदा त्यागनेका यह मतलब नहीं है कि बड़ोंकी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठाका हम ख्याल न करें। घूंघट में असावधानी या अज्ञान समा सकता है, किन्तु परदा न करनेपर जवाबदारी बढ़ जाती है। सुधारसे यदि बिगाड़ पैदा हो जाय, तो उससे लाभ ही क्या है?

परदेमें रहनेवाली स्त्रियोंकी ओर देखनेका कौतुक या कुतूहल पुरुषोंको अधिक होता है। परदानशीन स्त्रियोंको पुरुषोंका सदा भूतका-सा भय बना रहता है। हमारेमें यदि सचाई हो तो वह तेज हमारेमें अपने-आप पैदा हो जाय जिससे पुरुषोंको ही डरना पड़े। परदेमें यह तेज पैदा नहीं हो सकता। शेर से आदमी डरता है, किन्तु सामना होनेपर यदि वह घबरा जाय और धीरज छोड दे, तो उसको मरना ही होगा। इसी प्रकार सदा परदेमें रहनेवाली स्त्री इतनी भयभीत रहती है कि किसी भी संकटापन्न परिस्थितिका सामना वह हिम्मतके साथ नहीं कर सकती। ईश्वरकी दी हुई बुद्धि और विचारसे बचावका कोई उपाय वह नहीं सोच सकती। विवेकसे काम लेनेवाली हिम्मत तथा धैर्य परदेमें कैद रहनेवाली स्त्रीमें कैसे रह सकता है? राजपूत स्त्रियोंमें परदा था, तो भी वे अपने शील, मर्यादा और सतीत्वकी रक्षा करना नहीं भूली थीं। सदा और सर्वत्र परदा करना धर्म है, ऐसी अन्ध-भावना उनमें नही थी। वे वीरांगनायें थीं। संकट उपस्थित होनेपर, परदा हटा, हाथमें

तलवार ले, चण्डीका रूप धारणकर, शत्रुका सामना करना वे जानती थीं। उनमें तेज और वीरता विराजती थी। आज परदेने स्त्री-समाजको अत्यन्त भीरु निस्तेज और कायर बना दिया है। परदेके कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ता है, हृदय संकुचित हो जाता है, विचार अनुदार बन जाते हैं और व्यवहारमें संकीर्णता छा जाती है। ऐसी माताकी सन्तान वीर कैसे बन सकती है? इसीसे हमारा देश निर्जीव बन गया है।

दिन-रात घूंघटमें रहनेके कारण हम यह नहीं जान सकतीं कि दुनियामें क्या हो रहा है? हम कहां रहती हैं? हम क्या कर सकती हैं? हमको क्या करना चाहिये? और मनुष्य-जीवनका क्या प्रयोजन है? खाने-पकाने और ओढ़ने-पहिननेमें हमारा जीवन पूरा हो जाता है। घरका काम करना बुरा नहीं है, किन्तु यह जीवन केवल इस लिये नहीं है कि उसको उसीमें खपा दिया जाय। देश और अपनी अन्य बहिनोंके प्रति भी हमारी कुछ जिम्मेवारी है। सामाजिक और सार्वजनिक जीवनमें हमारा जो उचित भाग है, उसको परदेके कारण हम पूरा नहीं कर सकतीं। हमारा क्षेत्र चूल्हा, सन्तान और तुलसी दल तक ही सीमित रह गया है। मनुष्यता के सब अधिकारोंसे हमको वंचित कर दिया गया है। ऐसे कितने ही सार्वजनिक काम हैं, जिनका सम्पादन पुरुषोंकी अपेक्षा हम अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। उनके भली प्रकार सम्पादन न होनेसे समाज और राष्ट्रकी कितनी हानि होती है? इस प्रकार परदा सब समाज और देशके लिये भी हानिकारक और घातक सिद्ध हो रहा है। जो परदानशीन महिला घरसे बाहर पैर रखते ही घबराती हैं, वह सार्वजनिक या सामाजिक कार्योंका सम्पादन क्या कर सकती है?

परदेसे किसी और को तो कुछ लाभ होता दीख नहीं पड़ता। हां, ऐसी कुरूप स्त्रियों को जरूर कुछ लाभ होता है, जिनकी जगह वधू-परीक्षामें दूसरी सुन्दर लड़की दिखा कर विवाहके समय उनको कपड़ेमें लपेट कर ला बिठाया जाता है। विवाह बाद भण्डाफोड़ होने पर विचारी निरपराध बालिकाकी जो दुर्दशा होती है, वह किसीसे छिपी नहीं है।

कुछ मिथ्याभिमानी पुरुष इसमें अपना गौरव मानते हैं कि स्त्रियां उनसे परदा करती हैं। पर, वे यह भूल जाते हैं कि डर और आदर दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न और विपरीत वस्तुएं हैं। जहां डर है, वहां आदरका भाव रह नहीं सकता। हम जंगली जानवरों और चोर-डाकुओंसे डरते और छिपते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उनका आदर करते हैं जिस डरके पीछे द्वेषकी भावना छिपी रहती है, उसमें आदर कैसे रह सकता है? इसलिये स्त्रियोंको परदेमें रखना झूठे अभिमान और अज्ञानताका लक्षण है। परदेके पक्षपाती यह कहते हैं कि परदा त्याग देनेसे स्त्रियोंमें निरंकुशता आ जायगी। जब परदेके बिना जहां-तहां स्वतन्त्र बिचरनेके कारण पुरुष निरंकुश नहीं बने, तब स्त्रियोंमें ऐसी कौन सी कमी है कि वे निरंकुश बन जायेंगी? मैं तो स्त्रियोंकी इस समयकी गुलामी, दुर्बलता और असहाय अवस्थासे निरंकुशताको कहीं अधिक अच्छा समझती हूं। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि निरंकुशता वांछनीय है। पर, यह तो स्पष्ट है कि निरंकुश होनेके भयके साथ उनकी उन्नति तथा प्रगतिका मार्ग तो खुल जाता है, किन्तु परदेमें उसकी कोई आशा ही नहीं की जा सकती। उचित शिक्षा और संयमसे यदि उनमें सादगी, सेवा और संयमके

संस्कार डाले जा सकें, तो सोनेमें सुगन्ध पैदा हो जाय और उनके निरंकुश होनेका भय ही न रहे।

परदा दूर करनेमें किसी प्रकारकी कोई हानि होनेकी संभावना नहीं, —ऐसा मैं नहीं मानती। ऐसी सम्भावना हरएक अच्छे कार्य के साथ बनीं रहती है। घरमें उजियाला करनेने लिये दिया जलाने और रसोइयेके लिये चूल्हा सुलगाने पर उनसे क्या घरमें आग लगनेका भय नहीं होता। पर इस भयके कारण घरमें उजाला करना और रसोई पकाना किसीने नहीं छोड़ा है। बच्चा ठोकरें खाता है, गिरता है और चोट लग कर उसके खून भी निकल आता है, तो भी उसको चलनेका अभ्यास कराया जाता है। जहां तक हो सके, दोषोंको दूर करना चाहिये और परदा त्यागने वाली बहिनों और माताओंको उनसे बचना चाहिये। फिर भी यदि कुछ दोषबने रहते हैं, तो उनको सहन करनाचाहिये। जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त होता जायगा, वैसे-वैसे वे सब दोष दूर होते जायेंगे। पर, उनके भयसे परदेको, जो उनसे भी अधिक भयानक और महान् दोषोंका घर है, बनाये रखना बुद्धिमानी नहीं है।

परदाके सम्बन्धमें काममें लाई जाने वाली कठोरता और कट्टरता पर जब मैं विचार करती हूं, तब सहसा मेरे मनमें ये प्रश्न पैदा होते हैं कि क्या स्त्रीके रूपमें जन्म लेना ही कोई अपराध है? स्त्री, माता या बहिन होना क्या ऐसा घृणास्पद है कि उसके लिये हमको लज्जा होनी चाहिये? क्या स्त्रीत्व और मातृत्व ऐसी लज्जा की वस्तुयें हैं कि उनके मुंह पर हमें परदा डाल रखना चाहिये? परदाप्रथासे स्त्री-समाजका जो महान् पतन, अपार हानि और भारी क्षति हुई और हो रही है, वह इतनी स्पष्ट है कि उसके लिये

दलीलें पेश करनेकी जरूरत नहीं है। परदा चरित्र, विनय और मर्यादाके स्थानमें विषय-वासना, दुश्चरित्रता और कायरताका पोषक है। स्त्रीके स्वाभाविक गुणोंका विकास, उसके शीलकी रक्षा और मनुष्य-समाजके गौरवकी वृद्धि परदा त्यागनेसे ही होनी सम्भव है। इस लिये सबका यह सबसे प्रधान और पहिला कर्तव्य है कि हम इस राक्षसी प्रथाका अन्त कर परदेकी कैदमें बन्द रहने वाली बहिनों को उससे जल्दीसे जल्दी छुटकारा दिलावें।

मुझको पूरा भरोसा और विश्वास है कि भाई सत्यदेवजी विद्यालंकारका यह प्रयत्न स्त्री समाजको परदेकी कैदसे मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध होगा। आपकी राष्ट्र-सेवा, समाज-सेवा और जाति-सेवा किसीसे छिपी हुई नहीं है। राष्ट्र-सेवाके मैदानमें जैसी दृढ़ता, तत्परता तथा त्यागसे आपने काम किया है, समाज-सुधार के क्षेत्रमें भी आपने वैसे ही उत्साह, लगन तथा धुनका परिचय दिया है। मन, बचन, कर्ममें आप जैसे परखे हुए देशभक्त हैं, वैसे ही कट्टर समाज-सुधारक भी हैं। इस पुस्तकमें भी आपकी दृढ़ देशभक्ति और समाज-सुधारकी तीव्र भावनाकी साक्षी जहाँ-तहाँ मिलती है। ऐसी उपयोगी और महत्वपूर्ण पुस्तक लिखकर आपने भारतके महिला-समाजकी बहुत बड़ी ठोस सेवा की है और मुझसे उसकी भूमिका लिखवाकर मुझको ही गौरवान्वित किया है, जिसके लिये अपनी और सब बहिनोंकी ओरसे मैं आपका आभार मानती हूं। मैं चाहती हूं कि धार्मिक अन्ध-विश्वास तथा सामाजिक परम्परावादकी उलझनसे छुटकारा पानेकी इच्छा करनेवाले भाई, बहिन इसके अनुकूल आचरण करनेके लिये इसका मनन करें और घरमें दीपककी तरह इसकी एक प्रति रखें। इस दीपकसे उनके घर

में ऐसा उजियाला सदा बना रहेगा, जो उनको अन्ध परम्पराके अन्धकारमें भटकनेसे बराबर बचाता रहेगा। यह मेरी हार्दिक इच्छा है कि भाई सत्यदेवजीने जिस भावना और कामनासे इसको लिखा है, वह पूर्ण हो और स्त्री-समाजका दीन-हीन तथा पराधीन अवस्थासे शीघ्रसे शीघ्र उद्धार हो।

शैल आश्रम
बिनसर-अल्मोड़ा,
दिवाली १९३५

जानकीदेवी बजाज

परिचय
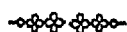
समाज सुधारके आज-कलके आन्दोलनमें परदा-निवारणका आन्दोलन जीवित और जागृत आन्दोलन है। उन सभी समाजों और प्रान्तोंमें परदा दूर करनेके सम्बन्धमें विचार, चर्चा और चेष्टा हो रही है, जिनमें परदा-प्रथाकी रूढ़ि पाई जाती है। स्त्री-जातिकी दीन-हीन अवस्थाके सम्बन्धमें सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिसे विचार किया जा रहा है और यह अनुभव किया जा रहा है कि स्त्री जातिका उससे उद्धार हुए बिना समस्त देश या राष्ट्रका इस समयकी लज्जापूर्ण स्थितिसे ऊपर उठना सम्भव नहीं है। इस को इसी विचार और अनुभवका परिणाम समझना चाहिये। किसी तात्त्विक विवेचन, ऐतिहासिक अनुसन्धान या दार्शनिक अनुशीलनकी दृष्टिसे यह पुस्तक नहीं लिखी गई हैं। इसको लिखा गया है विशुद्ध-सामाजिक-सुधारकी दृष्टिसे, केवल इस भावना और कामनासे कि स्त्रियोंकी सदियोंकी पराधीनताके सब बन्धन एक साथ कट जायें, उनका सोया हुआ व्यक्तित्व एकाएक जाग उठे और बिना किसी प्रयोजनके नष्ट होनेवाली उनकी महान् शक्ति का पूर्ण उपयोग राष्ट्र-निर्माणके लिये किया जा सके।

बिहारके प्रलयकारी भूकम्पके बाद दु:खी, सन्तप्त और पीड़ित भाइयोंकी सेवाके निमित्त प्रलयके उस प्रदेशमें रहने और घूमने तथा वहांकी सामाजिक अवस्थाके अध्ययन करनेका कुछ अवसर सहजमें प्राप्त हो गया था। उससे पहिले लेखककी यह धारणा थी

कि सामाजिक दृष्टिसे सबसे अधिक पिछड़ा हुआ प्रान्त राजपूताना है और स्त्रियोंकी सबसे अधिक दयनीय दशा मारवाड़ी समाजमें है। बिहारकी सामाजिक अवस्थाके अध्ययन करनेके बाद उक्त धारणा बदलनी पड़ी और यह अनुभव हुआ कि समाज-सुधारके क्षेत्रमें बिहार राजपूतानासे भी अधिक पिछड़ा हुआ है और बिहारी महिलाओंकी अवस्था मारवाड़ी महिलाओंसे भी अधिक दयनीय है। बिहारसे लौटनेपर बिहारकी सामाजिक दुरवस्था और बिहारी महिलाओंकी दयनीय स्थितिके सम्बन्धमें कलकत्ताके साप्ताहिक 'विश्वमित्र' मे कुछ लिखा भी था। 'आदर्श-हिन्दी-पुस्तकालय' नामकी प्रकाशन संस्थाके संचालक श्री गिरिधरजी शुक्लने उसी समय इस पुस्तकके लिखनेका प्रस्ताव पेश किया था कि यथाशीघ्र पुस्तक लिखी जाय और प्रकाशित भी कर दी जाय। कलकत्तासे देहली आकर कुछ कागज-पत्र और पुस्तके बटोर कर उसकी तैयारीमें लगा ही था कि ऐसी भयानक बीमारीने आ घेरा कि उससे छुटकारा पाकर यह पुनर्जन्म प्राप्त किया है। लगभग नौ-दस महीने बीमारी और कमजोरीके बिस्तर पर पड़े हुए इस पुस्तकका ध्यान बराबर बना रहा। वैद्यों और डाक्टरोंकी सलाहसे वायु-परिवर्तन और स्वास्थ्य-सुधारके लिये किसी पहाड़ी स्थानपर जाना आवश्यक हो गया। राजपुर आनेके बाद शरीरमें बैठने, उठने और लिखनेका सामर्थ्य आते ही इसका काम शुरू कर दिया। हिमालयके जिस प्रदेशके शिरोभूषणके स्थानपर विराजमान मसूरी सदा चमचम करता रहता है और पैरोंके आभूषणोंकी शोभा देहरादून बनाये रखता है, उसीके कटिभागमें करधनीकी तरह लिपटा हुआ राजपुर एकान्त,

शान्त तथा उजड़ा हुआ एक छोटा-सा पुराना शहर है, जिसमें न कोई पुस्तकालय है और न सम्भवतः पुस्तकोंका प्रेमी या साहित्यका व्यसनी कोई व्यक्ति ही है। लिखनेके कार्यके लिये यह स्थान सर्वथा उपयुक्त होने पर भी यहां अध्ययनके लिये किसी प्रकारकी साहित्य-सामग्रीका जुटाना सहज नहीं है। कलकत्तासे १९२१ में 'नवयुग' नामका मासिक-पत्र उदारचेता स्वनामधन्य श्री रामकृष्ण जी मोहताकी प्रेरणा और प्रोत्साहनसे निकालना शुरू किया था। उसी वर्ष कलकत्ता-कांग्रेस पर उसका 'परदा-निवारक-विशेषाङ्क' भी निकाला गया था, जिसकी सब प्रतियां तीन ही दिनमें उसी अवसर पर हाथों-हाथ बिक गईं थीं। ऐसी कोई पुस्तक लिखनेका विचार उसी समयसे था। प्रस्तुत पुस्तकमें अधिकतर उस समयके अध्ययनका ही संग्रह किया गया है। अनुभवकी सामग्री सम्भवतः अध्ययनकी सामग्रीसे भी अधिक है। उस दीर्घकालीन संकल्पको एक वर्ष पहिले वर्तमान रूप मिल गया होता, यदि अकस्मात् लम्बी बीमारीने न आ घेरा होता।

समाज-सुधार और सामाजिक आन्दोलनकी दृष्टिसे प्रस्तुत पुस्तकके लिखे जानेपर भी उसमें कुछ आवश्यक विवादास्पद विषयों की चर्चा की गई है। परदेकी प्रथाके प्रारम्भ होनेका विषय उसको दूर करनेके विषयसे भी अधिक विवादास्पद है। उसके प्रारम्भ होनेका सब दोष सहसा मुसलमानोंके माथे मढ़ दिया जाता है और उसको मुसलमानी सभ्यता तथा आतङ्कका परिणाम बता दिया जाता है। पर वस्तुतः यह ठीक नहीं है। मुसलमानी सभ्यताका उसको अंग बताकर हम मुसलमानोंके साथ भारी अन्याय करते हैं और उसको उनके आतङ्कका परिणाम कह कर

अपने माथे पर हम स्वयं कायरता तथा नपुंसकताके भारी कलङ्क का काला धब्बा लगा लेते हैं। इस सम्बन्धमें जो विवेचन किया गया है, हो सकता है वह सोलह आना सत्य न हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि हम इस सम्बन्धमें कुछ भी अनुसन्धान न करें और अपने साहित्य, इतिहास तथा धर्मग्रन्थोंका अध्ययन इस दृष्टिसे न करें। इस सम्बन्धमें वास्तविक सचाईका पता लगानेके लिये अध्ययन तथा अनुशीलन करनेकी प्रवृत्ति पैदा करने और निराधार भ्रान्त धारणा को दूर करनेके विचारसे उक्त विवेचन किया गया है। इससे सहमत न होनेवाले सज्जन यदि हठ, दुराग्रह तथा पक्षपातको छोड़कर स्वतन्त्र दृष्टिसे कुछ विचार करेंगे, तो अच्छा होगा। गली, कूचों तथा सड़कोंपर चलने-फिरनेवाली और सहजमें किसी ओर झुक जानेवाली आम जनतामें कुछ स्वार्थी लोग साम्प्रदायिकताके जिस विषको भर देते हैं, विचारक और लेखकको यत्न पूर्वक उससे बचाना चाहिये। परदा-प्रथाके सम्बन्ध में भी हमारा दृष्टिकोण साम्प्रदायिकताके रंगमें रंग गया है। न केवल परदा, किन्तु अन्य अनेक सामाजिक बुराइयोंका दोष भी हम अपने पड़ोसीके माथे मढ़ अपनेको उनसे बरी कर लेना चाहते हैं। पर, यह सम्भव नहीं है। जब तक बुराइयां हमारे धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवनके रग-रगमें घुसी हुई हैं और हमारे आचार-विचार तथा दिल-दिमागका हिस्सा बनी हुई है, तब तक उनके दोषसे बरी नहीं हुआ जा सकता। उनका सब दुष्परिणाम भी हमको भोगना पड़ेगा। साम्प्रदायिक भावनासे ऊपर उठ, बुराईको बुराई समझ, उनको दूर करनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये।

भारतीय महिलाओंकी जागृति एक स्वतन्त्र पुस्तकका विषय है। उनके अनुभव और उद्योगकी कहानी किसी मासिक-पत्रकी वर्षोंकी जिल्दोंमें भी पूरी नहीं हो सकती। परदा-निवारक-आन्दोलन उनकी जागृतिकी प्रतीक है। परदा दूर करके सार्वजनिक जीवनमें आगे आनेवाली बहिनोंके अनुभव और उदाहरण दूसरों के लिये प्रेरक, उत्साहप्रद और मार्गदर्शक हो सकते हैं। इसीलिये उस प्रकरणको दूसरे प्रकरणोंकी अपेक्षा अधिक बढ़ाकर उसका उचित समावेश उसमें कर दिया गया है। यह केवल संकेत मात्र है। जिन बहिनोंके अनुभव इस प्रकरणमें दिये गये हैं, उनसे अधिक साहसका परिचय देनेवाली अन्य बहिनोंका होना सम्भव है और यह भी सम्भव है कि उनके अनुभव तथा उदाहरण अधिक उत्साहप्रद हों, पर उन सबका एक साथ एकत्रित कर सकना सम्भव नहीं था। चालीससे अधिक बहिनोंसे अपने अनुभव लिखनेकी प्रार्थना की गई थी। बहुतोंने पत्रोंका उत्तर तक नहीं दिया, कुछने अन्त तक आशा दिलाकर भी निराश ही किया और जिनके अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनको भी लगातार कई पत्र बराबर लिखने पड़े थे। कारण इसका यह है कि भारतीय महिलाओंकी जागृतिका अभी शिशुकाल है। परदा त्याग देनेपर भी उनमें स्वाभाविक सङ्कोच तथा लज्जा इतनी बनी रहती है कि वे किसी व्यक्तिके साथ सहसा पत्र-व्यवहार नहीं कर सकतीं और अपने सम्बन्धमें स्वयं कुछ लिखकर भेजना उनके लिये सम्भव नहीं है। इसीसे इस प्रकरणकी सामग्री जमा करनेमें लेखकको कुछ कम मेहनत नहीं करनी पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा विस्तृत संग्रह बहुत उपयोगी, शिक्षाप्रद तथा मनोरञ्जक हो सकता है और

समाज-सुधारके आन्दोलनकी दृष्टिसे उसके सङ्कलनकी आवश्यकता भी है।

स्त्रीपर पुरुषका कठोर शासन सदा, सब जगह, सब देशोंमें कायम रहता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह भविष्यमें भी सदा कायम रहेगा। फिर भी स्त्रीको अपनी पराधीनताको दूर करके असहाय-अवस्थासे अपना उद्धार करना चाहिये, अपने व्यक्तित्व को पहिचानना चाहिये और उसके विकासके मार्गको प्रशस्त बनाने के यत्नमें सदा लगे रहना चाहिये। साहित्य उसका एक साधन है और आज-कलके साधनोंमे उसका स्थान बहुत ऊँचा है। पश्चिमीय देशोंकी स्त्रियोंने पुरुषोंके कुशासनसे छुटकारा पानेके लिये जब आन्दोलन शुरू किया था, तब वहाँ जिस साहित्यकी सृष्टि हुई थी, उसका अभी इस देशमें श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। वैसे साहित्यके निर्माणमें अपनी प्रतिभा, शक्ति, समय और धन-सम्पत्तिके लगाने वाले कितने लेखक, विचारक, प्रकाशक और पूँजीपति इस देशमें हैं? समाज-सुधारक संस्थाओंने भी अभी ऐसे साहित्यकी कीमत और महत्व नहीं समझा है। परदा-निवारक-दिवस मनाये जाते हैं, सभायें तथा सम्मेलन किये जाते हैं, संस्थायें बनाई जाती हैं और कुछ सामयिक अपीलें भी समाचार पत्रोंमे प्रकाशित की जाती हैं, किन्तु कुछ स्थिर और गम्भीर साहित्य पैदा करनेकी ओर न ध्यान दिया जाता है और न उसके लिये कुछ यत्न किया जाता है। क्योंकि वह व्यापारका विषय नहीं है। समाज-सुधारके आन्दोलनमें रुपया लगाकर उससे आर्थिक—लाभकी आशा नहीं की जा सकती और वैसा साहित्य भी आर्थिक दृष्टिसे उतना लाभदायक नहीं हो सकता। कदाचित् इसीसे उनके निर्माणकी आवश्यकताको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा जाता है।

परदा-प्रथा स्त्रीपर पुरुषके अन्यायपूर्ण कठोर शासनकी निशानी है। इसलिये यह पुस्तक कुछ व्यापक दृष्टिसे लिखी गई है और परदेकी प्रथाकी अपेक्षा उसके पीछे होनेवाले पाप, अन्याय, अनौचित्य तथा उनके दुष्परिणामोंपर अधिक विचार किया गया है। पुस्तक लिखते हुए हिन्दी-भाषी हिन्दू-जनताको विशेष लक्ष्यमें रखा गया है और अधिकतर हिन्दू-समाजके धार्मिक अन्ध-विश्वास, सामाजिक-मूढ़ भावना तथा परम्परागत रीति-रिवाजों के किलेपर धावा बोलनेकी भावनासे इसको लिखा गया है। परदे की कैदमें दीनता, हीनता तथा पराधीनताका दुखपूर्ण असहाय जीवन बितानेवाली बहिनोंके हृदयोंमें उनके विरुद्ध भयानक विद्रोह की तीव्र भावना जागृत होकर यदि समाज-सुधारके व्यापक आन्दोलनके अंश परदा-निवारणको कुछ थोड़ा-सा भी प्रोत्साहन इस पुस्तकसे मिल सका, तो लेखक अपने परिश्रमको सफल हुआ समझेगा। श्रीमती जानकीदेवीजी बजाजने सहसा प्रार्थना स्वीकार करके पुस्तककी अपने अनुभवोंसे पूर्ण भूमिका लिख देनेकी जो कृपा की है, लेखक उसके लिये उनका कृतज्ञ है।

राजपुर (देहरादून)
'गांधी-जयन्ती'
२ अक्तूबर १९३५

—सत्यदेव विद्यालङ्कार

१

परदेके घरमें

—— ::*:: ——

सरलाका जन्म एक सम्पन्न घरमें हुआ था। उसके घरमें अन्य हिन्दू घरोंकी तरह पुराने रीति-रिवाज सब माने जाते थे। कुलकी परम्परा और बड़ोंकी मर्यादाका पालन जितना सम्पन्न घरोंमें होता है, उतना साधारण घरोंमें नहीं होता। इसलिये सरलाके घरमें भी उसका पालन बड़ी तत्परता और कुछ कठोरतासे किया जाता था। घरके साथ ही लगा हुआ घरका अपना एक मन्दिर था, घरके सब लोग प्रति दिन दोनो समय उसमें दर्शन करने जाया करते थे। सबेरे भगवानके दर्शन किये बिना घरमें किसी बालकको भी कुछ खानेको नहीं मिलता था। पूजा-पाठ, व्रत, उपवास, पर्व और त्योहार सब बड़े नियम और धूमधामसे मनाए जाते थे। घरमें सब व्यवहार कट्टर सनातनी घरका सा होता था। सरलाके घरकी समाजमें प्रतिष्ठा थी, उसके दादा समाजके पञ्चोंमें ऊँचा स्थान रखते थे, पञ्चायतमे उनकी बातको कोई काट नहीं सकता था, इसलिये भी परम्परागत सनातन धर्मका पालन उस घरमें बात-बातमें किया जाता था। सरलाकी बूढ़ी दादी अभी जीवित थीं। हिन्दू समाजमें शास्त्राचारकी मर्यादा जिस प्रकार

पुरोहितों द्वारा सुरक्षित है, ठीक वैसे ही उसके लोकाचारको न मिटने देनेका सब श्रेय समाजकी बूढ़ी स्त्रियोंको है। वे जब 'बहू' बन कर घरमें आती हैं, तब लोकाचारके प्रति उनका कैसा ही भाव क्यों न रहता हो, किन्तु जब वे सास बन कर घरकी मालकिन हो जाती हैं, तब वे उसकी तनिक सी अवहेलना भी सहन नहीं कर सकतीं। बहुओं, बेटों और बच्चों पर उनके शासनका इतना कठोर नियन्त्रण रहता है कि किसीको उनके सामने मुंह तक खोलनेका साहस नहीं होता। शासनका अधिकार है ही कुछ ऐसा कि वह शासकको सहजमें ही कठोर, क्रूर और निर्दयी बना देता है। फिर यदि वह अधिकार अनायास ही हाथ लग जाय और बुढ़ापा तथा धर्म उसके समर्थक हों तो कहना ही क्या है? सरला की दादी ऐसी ही कठोर शासक थीं। घरकी मर्यादा, परम्परागत सनातन धर्मकी व्यवस्था और लोकाचार तथा शास्त्राचारके व्यवहारमें तनिक-सी लापरवाही भी वह सहन नहीं कर सकती थीं। सावन भादोंकी झड़ी क्यों न लगी हो, पूस-माघका कड़कड़ाता जाड़ा क्यों न पड़ता हो, बच्चोंको सब कपड़े उतार, नङ्गे बदन टट्टी जाकर स्नान करना ही पड़ता था। घरकी बहुओं और दूसरों के साथ भी ये सब नियम बड़ी कठोरतासे काममें लाये जाते थे। ऐसे घरमें लड़कीके रूपमें जन्म लेकर सरलाकी पढ़ाई क्या हो सकती थी? जब लड़कोंको हिन्दीकी दो-चार किताबें पढ़ा देना बहुत समझा जाता था, तब लड़कियोंको पढ़ाकर कौन सनातन-धर्मकी अवज्ञा करनेका साहस करता?

सरलाके पिता इस घरमें गोद आये थे। वे बचपनसे ही बड़े होनहार, कुशाग्र बुद्धि और स्वतन्त्र विचारके थे। साधारण घरसे

बड़े घरमें आकर भी उनके स्वभावमें कुछ परिवर्तन न हुआ था। वे वैसे ही सरल और मिलनसार थे। अपनी गरीबीको वे भूले न थे। अहंकार और मिथ्या अभिमान उनमें न था। पिताकी मृत्युके बाद जब घरका सब कारबार उनके हाथमें आया, तब उनके ये सब सद्गुण कमलके फूलकी तरह खिलने लगे। बचपनकी कुशाग्र बुद्धि व्यापारमें कुछ ऐसी चमकी कि घरकी समृद्धि दिनदूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। समृद्धिके साथ-साथ मान प्रतिष्ठा भी बढ़ती चली गई, इस पर भी उनका स्वभाव नहीं बदला। स्वभावके सब सद्गुण शुक्लपक्षके चांदकी कलाओंकी तरह विकसित होते चले गये। विचारों की स्वतन्त्रतामें भी कुछ वृद्धि हुई। सरलाकी माता भी सरल स्वभावकी पति-अनुरक्ता पत्नी थी। अपनेको पतिके अनुकूल बनानेमें हिन्दू पत्नीको अधिक समय नहीं लगता। हिन्दू पत्नीके इस आत्म-समर्पण पर ही हिन्दू-समाज और हिन्दू धर्म इतने पतन के बाद भी आज तक टिके हुए हैं। विवाह-संस्कारके प्रतिज्ञा मन्त्रों में वर-वधू दोनों अपने चित्त और हृदयको दूसरेके चित्त और हृदयमें मिला देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। आज कल तो वह प्रतिज्ञा दोनों ओरसे विवाह कराने वाले पुरोहितोंसे होती है पर, तो भी हिन्दू कन्याके संस्कार कुछ ऐसे बन गये हैं कि वह पतिके स्वभावके साथ अपने स्वभाव, दिलके साथ दिल और दिमागके साथ दिमाग को इस प्रकार मिला देती है कि अपने पृथक् अस्तित्वको ही खो बैठती हैं। सरला की माता भी ऐसी ही आदर्श पत्नी थीं, इसलिये सरलाके पिताके विकासमें माताकी ओरसे कोई रुकावट पैदा नहीं हुई। हां, दादी जरूर रोड़े अटकाती थी, कभी-कभी तो वह घरमें लंकाकाण्डका-सा दृश्य उपस्थित कर देती थीं, घरसे अलग होनेकी

धमकी देना तो साधारण बात थी। पर सरलाके माता-पिताके स्वभावमें सरलता और नम्रता असाधारण मात्रामें थी, उनके विनयशील नम्र स्वभावके सामने दादीकी कठोरता अधिक दिन नहीं टिक सकी। प्रजावत्सल राजाके समान दादीने अपने क्रूर शासनको स्वयं ढीला करना शुरू कर दिया। कमाऊ पूतके सामने बूढ़े घरवालोंको यों भी झुकना पड़ जाता है। उसके रौबको घरके प्रायः सभी लोग मानने लग जाते हैं। सांसारिक मोह-मायामें फंसे हुए लोग धर्मकी जितनी अधिक डींगें हांकते हैं, धन सम्पतिके वैभवके सामने वे उतने ही ढीले पड़ जाते हैं। घरमें यदि लक्ष्मी आती रहे, तो धर्मकी अवहेलना उनको नहीं अखरती। साराश यह है कि सरलाके माता-पिताके सामने उसकी दादीको हार माननी पड़ी। घरका सब रंग बदल गया। बड़ोंकी मर्यादा कुलकी परम्परा और सनातन धर्मका बंधन अब किसी व्यवहारमें बाधक नहीं समझा जाता था। सरलाके पिता समाज सुधारका कार्य करनेवाली संस्थाओं में विशेष रुचि रखने लगे। घरका सब काम काज और व्यवहार, जातीय-संस्थाओंके नियमोंके अनुसार होने लगा। विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार आदिका उन्होंने खुला समर्थन शुरु कर दिया। सामाजिक-बहिष्कारका उनको कुछ भी भय नहीं था, क्योंकि जात-बिरादरीके भोजों और ऐसे समारोहों में जाना उन्होने स्वयं बन्द कर दिया था। समाज सुधारका सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि अपने आधीन सब कुएं अछूतोके लिये खुले कर दिये। पुरोहितों, पण्डों तथा पण्डितों और जात बिरादरीके बड़ों-बूढ़ोंके मना करने पर भी उन्होंने अपने मन्दिरका द्वार भी उनके लिये खोल दिया। जिस विद्यालय

और विद्यार्थी-गृहका संचालन उनके आधीन था, उसमेंसे भी छूतछात तथा ऊंच-नीचका भेदभाव उठा दिया गया। थोड़े ही समयमें वे उन लोगोंसे भी आगे बढ़ गये, जो उनके पहिले से समाजमें सुधारक कहे जाते थे। निःसन्देह, यह असाधारण परिवर्तन था। समाजके नये और पुराने सभी लोग सरलाके पिताके इस उत्कर्षको कौतुकभरी दृष्टिसे देखने लगे। समाजमें चर्चा होने लगी। बड़ोंकी दृष्टिमें वह उत्कर्ष, नहीं पतन था और उस पतनकी ओरसे उन्होंने आंखें मून्द लीं। नवयुवकोंके लिये वह उत्कर्ष आदर्श बन गया। वे धीरे-धीरे उस आदर्शकी ओर आकर्षित होने लगे। कहना न होगा कि सरलाके माता-पिताने सरलाकी पढ़ाईका भी प्रबन्ध किया। यद्यपि माता-पिताकी इच्छाके अनुसार वह अधिक तो नहीं पढ़ सकी, किन्तु फिर भी काफी पढ़-लिख गई। जिस समाजमें दस वर्षकी आयुमें लड़कीका विवाह और गौना तक हो जाता है, उस समाजमें दस वर्षकी आयुमें सरलाकी पढ़ाई शुरू हुई थी। यदि वह कुशाग्रबुद्धि होती तो भी वह इतने थोड़े समयमें कितना पढ़ लेती ?

माता-पिताने बहुत टाला, परन्तु चौदह वर्षकी आयुके बाद वे उसका विवाह नहीं टाल सके। सरलाके ससुरालवालोंकी चलती तो वे उसको इतना भी नहीं टलने देते। सरलाके माता-पिताकी विवाह-संस्कार-सम्बन्धी सभी बातोंको उसके ससुरालवाले मानते चले गये। इसलिये वह अवसर नहीं आया, जब कि सरलाके माता-पिताको सरलाकी सगाई तोड़नी पड़ती। यदि अवसर आता, तो भी वे सम्भवतः वैसा नहीं कर सकते। सरलाके दादा और दादीने बड़े चावसे वह सम्बन्ध ठीक किया था। दादीकी इस जीवनकी

अन्तिम अभिलाषा यही थी कि सरलाका विवाह उसके सामने वहां हो जाय, जहां उसने ठीक किया था। माता-पिता दादीकी उस अभिलाषाको अकारण टालनेवाले न थे। इसलिये उन्होंने दादीके लिये ससुरालवालोंके इस आग्रहको मान लिया कि सरलाका विवाह चाहे जिस ढङ्गसे हो, किन्तु उस समय वह परदा जरूर करे। सरलाका विवाह उस धूमधामसे तो न हुआ; जो धूमधाम समाजमें प्रायः ऐसे अवसरों पर हुआ करती है, किन्तु तो भी धूमधाम कुछ कम न थी। सुधारक ढङ्गसे होनेवाले उस विवाहकी समाजमें अच्छी चर्चा रही। रीति-रिवाज, रस्म-या रूढ़िके नामसे लोकाचार या शास्त्राचारका कोई काम नहीं किया गया। जाति बिरादरीकी तो जीमनवार क्या ही करनी थी, विवाहमें आनेवालों के लिये भी बहुत सीधा-सादा भोजन बनता था। नेगचार और पूजा-पाठके आडम्बरको भी मिटा दिया गया था। गहने-कपड़ेके दिखावेको वहां कौन पूछता था? विवाह बड़ी सादगीके साथ हुआ और घंटे डेढ़-घंटेमें सब संस्कार पूरा हो गया। इतने पर भी बिचारी सरलाके लिये विवाहके समय परदेका पुराना बन्धन जैसाका तैसा ही बना रहा। उसके लिये उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कपड़ेमें लपेट कर गठरी बनाकर उसको वेदीपर बिठाया गया। मुंह तो क्या हाथ-पैरकी अंगुली तक कपड़ेसे बाहर नहीं हो सकती थी। पासमें ससुरालकी एक वृद्ध महिला बैठी हुई केवल इस बातकी रखवारी कर रही थी कि सरला पर चारों ओर लिपटा हुआ कपड़ा कहींसे खिसक न पड़े। जहांसे कपड़ा खिसका कि वह तुरन्त उसको कसकर ठीक कर देती थी। सरलाके लिये आज परदेके कठोर जीवनका आरम्भ हुआ था।

यह आरम्भ उसके स्वभावसे बिलकुल विपरीत, उसकी शिक्षाके प्रतिकूल और उसके आज तकके जीवनसे ठीक उलटा था। उसने वह डेढ़ घंटा जिस सङ्कटमें विताया, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, वह अनुभवका ही विषय है। गरमी और पसीनेमें उसका दम घुट गया। उसका बस चलता तो वह वहांसे भाग खड़ी होती। पर नहीं। हिन्दू नारी प्रतिरोध करना नहीं जानती और प्रतिहिंसाकी वृत्ति उसके स्वभावमें कभी रही ही नहीं है।

विवाहके बाद सरला ससुराल गई। वह बहुत बड़ा दिल लेकर नये घर आई थी। माता-पिताका आदेश था कि सास-ससुरकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न हो। पतिकी सेवामें कभी कोई त्रुटि न हो और इस घरकी तरह उस घरकी मर्यादाका पालन भी पूरी तत्परताके साथ किया जाय। ऐसा आदेश न होता, तो भी सरला की ओरसे शिकायतका कोई अवसर उपस्थित नहीं हो सकता था। नये घरमें प्रवेश करते ही पहिला कुछ अनुभव जो सरलाको हुआ, वह यह था कि उसको संस्कारके समयके तरह ही कपड़ेमें लपेट कर उस घरमें लाया गया। नये घरमें प्रवेश करते ही वह सास-ससुर के पैरोंमें माथा रखकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहती थी, पर कपड़ेमें लिपटी हुई सरला सास-ससुरके चरणोंका दर्शन तक न कर सकी। सासने सरलाको उस घरकी मर्यादाका जो पहिला आदेश या उपदेश दिया, वह उसके लिये जलेपर नमक था। सासने शासकके कठोर स्वरमें कहा—'देखो, बहू! यह तुम्हारा मायका नहीं ससुराल है। वहां तो तुम्हे परदा करनेकी कोई जरूरत नहीं थी। कहीं, देखो, यहां मुँह खोलकर कुल की मर्यादा चौपट न करना। इस कलङ्कसे इस घरको बचाना। जात-बिरादरीमें

हमारी नाक न कटवाना।" बिचारी सरलापर मानो मनों पानी पड़ गया। उसकी उमङ्गोंकी कलियाँ बिना खिले ही मुरझा गईं। उसके दिलकी दिलमें ही रह गई। क्या करती, लाचार थी। बिचारीका यह भी एक दुर्भाग्य समझना चाहिये कि उस घरके सबसे छोटे और चौथे लड़केसे उसका विवाह हुआ था। न केवल साससे किन्तु तीनों जिठानियोंसे भी उसे परदा करना पड़ता था। पतिकी सेवा वह विचारी क्या करती? दिन भरमें पतिसे बात करना तो दूर रहा, उसके दर्शन भी वह नहीं कर सकती थी। रातको अन्धेरा हुए बाद थके-मांदे पतिदेव आते और सबेरा होते न होते स्नानादि करके कामपर चले जाते। पति-सेवाका उसको अवसर हीं नहीं मिलता था। परदेके उस घरमें आकर सरलाको अबोध बालिका होने पर भी यह समझनेमें अधिक समय नहीं लगा कि वह अब कन्या नहीं रही, पत्नी बन गई है और हिन्दू पत्नीकी आँखोंपर विवाह संस्कारके समय जो परदा डाला जाता है, वह जीवन भर उसको इच्छा न होनेपर भी निभाना पड़ता है। इस जीवनके साथ ही उससे छुटकारा मिलता है। परदेके घरमें वह क्या आ फंसी थी। हवामें सदा स्वतन्त्र विचरनेवाले पक्षीको लाकर एक पिंजरेमें बन्द कर दिया गया था। उसको खाने-पीने और पहिननेकी कुछ कमी नहीं थी। आमोद-प्रमोदके सब साधन उसके लिये पहिलेसे जुटे रखे थे। भोग-विलासकी सामग्रीसे घर भर-पूर था। बस, एक वस्तुकी कमी थी और वह थी वह स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता, जिसमें उसने अपनी आयुके चौदह वर्ष बिताये थे। उन चौदह वर्षोंमें उसने इस कठोर जीवनकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। पर उससे क्या होता था? अब तो उसको इस कठोर जीवनके ही दिन पूरे करने थे!

-: २ :-

परदेका अनौचित्य

———:※:———

ससुरालमें आकर परदेकी कठोरताको जीवनका अंग बना लेनेपर भी जब कभी सरलाको अपने मायकेकी स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता याद आती, तब वह दिल मसोसकर रह जाती। जेल-जीवनकी उसने बहुत-सी कहानियां सुनी और पढ़ी थीं। वह अपने इस जीवनका उन कहानियोंके साथ मन हो मन मिलान किया करती। अपनी माताके साथ विवाहके पहिले दिन तक वह बुरी तरह मचल पड़ती थी, मां की साड़ी पकड़कर जब वह बैठ जाती, तो वह अपनी बात मनवाकर छोड़ती। खेलनेको जब कोई और साथी न मिलता, तो माके गलेमें जा लिपटती। रसोईमें उसका मिजाज माको संभालना कठिन हो जाता था। कभी दाल पसन्द नहीं आती थी, तो कभी भाजी थालीसे बाहर कर देती थी। कभी दहीके मीठा होनेकी शिकायत करती, तो कभी उसके खट्टा होने का दोष बताती। लाड़ले बच्चे इसी प्रकार मा-बापको रुला देते हैं। सरला भी कुछ कम लाडली न थी। शासन, नियंत्रण, मर्यादा और बंधनके नामसे तो उसको कभी कुछ कहा ही नहीं गया था। यहां तक कि माता-पिताने कभी आंख बदल कर भी उसकी ओर न देखा था। परदेके उस घरमें उसके लिये वे सब दिन काफूर हो चुके थे।। जो थालीमें रखकर सामने आ जाता, मन मार कर खाना पड़ता। रुचि, मिजाज और स्वादको अब कौन पूछता?

सासको वह माता मान कर उस घरमें आई थी, किन्तु माताके से व्यवहारका अनुभव करना उसके लिये सम्भव नहीं था। सासके सामने उसको मुंह ढाँप कर ही न रहना होता था, किन्तु उस पर नियंत्रण भी इतना कठोर रखना पड़ता था कि वह कभी मुंहसे एक भी शब्द उनके सामने नहीं निकाल सकती थी। पग-पग पर उसको उस घरकी मर्यादाका ध्यान रखना पड़ता था। सासके शासन और नियंत्रणके बन्धनोंमें वह ऐसी पिस गई थी कि अपने जीवनको कभी-कभी कैदीके जीवनसे भी गया बीता समझने लगती थी।

हिन्दू-समाजकी अबलाओंको अधिकतर सरला का-सा ही कठोरतम जेल-जीवन बितानेके लिये विवश किया जाता है। वे अपनी माता-सदृश सास और भगिनी-सदृश जिठानियों और ननन्दोंके सामने भी मुंह नहीं खोल सकतीं। किसी-किसी समाज और प्रदेशमें सास अपने पुत्र-सदृश जँवाई तकसे भी परदा करती है और जंवाईको भी ससुराल जाकर बहूका सा ही बन्दी जीवन बिताना पड़ता है। घरकी बहुओं और बेटियोंसे भी वह खुल कर नहीं मिल सकता। कहीं-कहीं यह कठोरता इतनी अधिक बढ़ गई है कि बहूके पैरकी आवाज सासके कानमें पड़ना भी कुलकी मर्यादा के प्रतिकूल समझा जाता है। बहूको जेठके उस पुत्र तकसे परदा करना पड़ता है, जो उसके अपने ही पुत्रके समान होता है। वैसे तो बहूको ऊपरसे नीचे तक जेवरोंसे भर दिया जाता है, उसकी बाहों और टांगोंमें ही नहीं, हाथोंकी अंगुलियोंके एक-एक पोरमें और पैरोंकी अंगुलियोंके एक-एक हिस्सेमें अलग-अलग जेवर डाले जाते हैं, कभी-कभी उनका भार निर्बल देहवाली बहूके लिये संभा-

लना कठिन हो जाता है। इसपर भी आशा यह की जाती है कि जब वह चले तो किसी गहनेकी आवाज घरके किसी व्यक्तिके कानोंमें नहीं पड़नी चाहिये। इस जबर्दस्तीकी भी कोई हद है ?

परदेके साथ यह एक ही अन्याय नहीं है, किन्तु वह सारी प्रथा ही अन्यायसे भरी हुई है। परदेके कठोर शासन, बेहूदा नियंत्रण और निरर्थक मर्यादाको बनाये रखनेका हठ करने वाले इस अनौचित्यको बताने पर भी जानना नहीं चाहते। वे आंख खोल कर अपने चारों ओर संसारके स्पष्ट व्यवहारको भी देखना नहीं चाहते। युक्ति, तर्क, और बहससे उन्होंने अपने कान ही नहीं, अपनी बुद्धिका द्वार भी बन्द कर लिया है। केवल बड़ोंकी परम्परा और कुलकी मर्यादाके नाम पर वे अपने दुराग्रह पर डटे हुए हैं। वे यह सोचनेका कभी यत्न ही नहीं करते कि जिस कन्याके लिये विवाहसे पहिले परदेका कोई बन्धन नहीं है और विवाहके बाद भी मायकेमें जिसके लिये परदा करना आवश्यक नहीं है, उसको ससुरालमें ही क्यों इतना कठोर परदा करनेके लिये विवश किया जाता है ? मैनचेस्टरकी पारदर्शक पतली ओढ़नियोंमें ही नहीं, किन्तु ऊपर से नीचे तक पारदर्शक वस्त्र पहिनने वाली नारी यदि मुंहको उस कपड़े से ढक भी लेती हैं, तो उस परदेका क्या अर्थ है ? मेलों, ठेलों, खेलों, तीर्थों, मन्दिरों और त्योहारों पर ऐसा पतला कपड़ा पहिन कर जानेवाली स्त्रियोंका परदा क्या निरर्थक नहीं है, जिसमें से उनके देहका अंग-प्रत्यंग और उनपर पहिना हुआ एक-एक जेवर तक साफ दीख पड़ता है। नाई, धोबी, तेली, कहार, रसोइया, पण्डा, पुजारी, पुरोहित, साधु, फकीर आदिसे और लखवारों, चूड़ीवालों, किनारी वालों, गोटे वालों, चूरन वालों, खोंनचे वालों, कपड़े

आदिकी फेरी करने वालों और ऐसे ही दूसरे लोगोंसे जो स्त्रियां कभी परदा नहीं करतीं, वे अपने घरके लोगोंसे ही क्यों परदा करती हैं? जो स्त्रियां नंगे पेट दो अंगुलियोंमें कानी आंखसे झांकती हुई सारे-बज़ारमें अश्लीलसे अश्लील गाने गाती हुई निकलती हैं, उनके घूंघटसे बड़ोंकी किस मर्यादा और कुलकी किस परम्परा का पालन होता है? जो देवियां विवाह आदिके अवसरों पर अटारियों में बैठ या दरवाजोंके पीछे खड़ी हो गन्दीसे गन्दी गालियोंकी बौछार कर बरातियोंका आतिथ्य-सत्कार करती हैं और जिनके साथ बरातियोंको भी आवाज़-कशी करनेकी पूरी स्वतन्त्रता रहती है, उनकी लज्जा या मर्यादा केवल दो अंगुल कपड़ा आंखोंके सामने कर लेनेसे कैसे सुरक्षित रहती है? जिस देशके निवासी सौ पीछे नब्बे गरीबोंका देहाती जीवन बिताते हैं और उन गरीबोंकी स्त्रियां परदेमें न रहकर जीवन-निर्वाहके कठोर संग्राममें पुरुषोंका पूरा हाथ बटाती और गार्हस्थ्य सुखको बढ़ाती हैं, उसी देशमें परदा सभ्यताका चिन्ह कैसे हो सकता है? जिस देशके अधिकांश प्रान्तों और अधिकांश जातियोंमें परदा नहीं किया जाता है, उसी देशके दूसरे हिस्सोंमें धर्मके नाम पर परदेका इतने कठोर रूपमें किया जाना क्या आश्चर्यका विषय नहीं है? गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, बरार, छत्तीसगढ़, मध्यभारत, उड़ीसा और बर्माकी गृहदेवियां यदि बिना परदेके रह सकती हैं, तो विहार, संयुक्तप्रान्त और राजपूताना आदिकी स्त्रियोंके लिये बिना परदेके रहना क्यों असम्भव है? पुरुषसे स्त्रीके परदा करनेके लिये तो शायद कोई युक्ति गढ़ भी ली जाय, किन्तु स्त्रीका स्त्रीसे परदा करना, स्त्रीका स्त्रीसे न बोलना और माता-पिता-समान सास-ससुरसे भी कन्या-सदृश बहूके

अदृष्ट रहनेके लिये कौनसी युक्ति पेश की जा सकती है ?

ऐसे किसी प्रश्न पर परदाके लिये दुराग्रह करने वाले कभी अपना दिमाग नहीं लगाते। यदि वे हठ छोड़कर और पुराने संस्कारोंसे ऊपर उठकर उन प्रश्नों पर कुछ थोड़ा-सा भी विचार कर सकें तो उनको सहजमें पता लग जाय कि जिस प्रथाको वे बड़ोंकी मर्यादा, कुलकी परम्परा और सनातन-धर्मकी व्यवस्थाके नाम पर इस बुरी तरह अपनाये हुए हैं, वह निरी बेहूदगियोंसे भरी हुई है। उसने उनकी अवस्थाको नितान्त हास्यास्पद बना दिया है। उनकी महिलायें सदा दूसरोंके कौतुककी सामग्री बनी रहती हैं। न केवल उनकी देवियोंकी बल्कि उनकी अपनी असहाय अवस्था भी चरमसीमाको पहुंच चुकी है। एक ओर तो परदेमें घुल घुल कर प्राण देने वाली नारी बीमारियोंका घर बन जाती है, दूसरी ओर कोई डाक्टर या वैद्य उसकी नाड़ी तककी परीक्षा नहीं कर सकता। हृदय, फेफड़ों और पेट आदिकी परीक्षा तो हो ही नहीं सकती। ऐसे पुराने घरोंकी संख्या भी कुछ कम नहीं है, जिनमें स्त्री-डाक्टर भी बीमार स्त्रीकी परीक्षा नहीं कर सकती। ऐसे घरमें घुसी हुई बीमारी भला उस घरसे क्यों निकलने लगी ? मृत्युके साथ ही स्मशान घाट पर परदा दूर होता है और वहां ही उस बीमारीसे छुट्टी मिलती है। आंखों पर परदा पड़ा रहेगा और मैंचेष्टर की मलमलकी-सी पतली धोती पहिन कर स्टेशनके प्लेट फार्म पर स्नान किया जायगा। गाड़ीमें जिधर घरवाले सगे सम्बन्धी या परिचित बैठे होंगे, उधर कपड़ा तान दिया जायगा और दूसरी ओर न केवल मुंह किन्तु शरीरका और हिस्सा भी खुला छोड़कर गप्पें लड़ाई जायेंगी। दर पर सवेराका भूखा-प्यासा

दुपहरकी कड़ी धूपमें हांफता हुआ कोई अतिथि आकर भले ही शामको पतिदेवके आने तक बिना स्नान, अन्न-जलके बैठा रहे, परदानशीन घरवाली उसका कुशल मंगल नहीं पूछ सकती, उसका आतिथ्य सत्कार नहीं कर सकती और उसके विश्रामका कोई प्रबन्ध नहीं कर सकती। हां, उसी समय रास्ते चलते फेरीवाले को घरके भीतर बुलाकर वह उसके साथ खुली बातचीत कर सकती है। इससे अधिक अनौचित्य और क्या हो सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि परदा बुराईको रोकनेके लिये नहीं है, अच्छाईको ही रोकनेके लिये उसकी सृष्टिकी गई है। 'परदा करो, 'परदा करो'– कह कर स्त्री-जाति पर शासन करनेवालोंको इतना अवसर नहीं है कि वे इन अनौचित्यों पर कभी विचार भी कर सकें।

अवधके रईस घरानोंको कुप्रथाओंने अपना घर बना रखा है। वहांके ठाकुर, ब्राह्मण और बनियोंके बड़प्पनका ये लक्षण बन गई हैं। ताल्लुकेदारों और मालगुजारोंकी श्रीमती इनके बिना निभ नहीं सकती। गरीबोंके पास न परदेकी सभ्यताको पालन करने के साधन हैं और न तो अपनी स्त्रियोंकी सहायताको बिना अपना संसार सुख पूर्वक निभा सकते हैं इसलिये वे इन सब बुराइयोंसे बचे हुए हैं। एक लेखकने अपनी आँखों देखी लखनऊकी एक घटना लिखी है। वे लिखते हैं कि 'इस प्रान्तकी परदा-प्रथाकी भयङ्करताका अनुभव मुझे अवधकी राजधानी लखनऊमें पहुंचनेके पहिले ही दिन हुआ। सुबह दस बजेके करीब मैं बाजारमें चला जा रहा था कि एक छकड़ा, जो बैलगाड़ीसे मिलता-जुलता था, दृष्टि-गोचर हुआ। उसे तीन पुरुष ढकेल कर लिये जा रहे थे। छकड़ा

बन्द गाड़ीकी तरह ढका हुआ था और उसके जितने सूराख थे, सब कपड़ोंसे बन्द कर दिये गये थे। मैं हैरान था कि वह क्या था? छकड़ेके समीप पहुंच कर देखा तो उस पर लिखा था —'महिला विद्यालय।' इस पर भी कौतुक कम नहीं हुआ। मैं नहीं समझ सका कि उस पर कौन बोझ लदा था। यह स्वप्नमें भी अनुमान नहीं कर सकता था कि छकड़े सरीखी वह भद्दी और तकलीफ देनेवाली सवारी नन्हीं-नन्हीं लड़कियोंके लिये हो सकती है, अभी मैं सोच ही रहा था कि एक और वैसा ही छकड़ा मेरे पाससे गुजरा। कुछ और आगे बढ़ा तो दो और वैसे ही छकड़े जाते हुए दीख पड़े। मैं किसीसे पूछनेको ही था कि महिला विद्यालय' का कौनसा सामान उन छकड़ोंपर लाद कर ले जाया जा रहा है कि इतनेमें परदेके एक सुराखसे फड़फड़ाती और चमकती हुई एक आँख दिखाई दी। मैं समझ गया कि लड़कियाँ पाठशाला पढ़ने जा रही हैं। मेरा दिल सहम गया। मैं सच कहता हूं कि यदि उन दूकानदारों और बाबुओंसे जिनकी वे लड़कियां होंगी, कोई कहे कि एक दिन वे भी अपनी दुकानों या दफ्तरोंमें उन सवारियों पर बैठ कर जाँय, तो सौमें एक भी इसके लिये तैयार न होगा। यदि पांच मिनट उस सवारीकी कैद किसी रईस, ठाकुर, ब्राह्मण, बनिये मालगुजार या ताल्लुकेदार बाबूकी भोगनी पड़ जाय तो वह एक सप्ताह तक अपनी कमर पर मालिश करवाता रहेगा। परन्तु इन्हीं सत्पुरुषोंकी लड़कियां प्रति दिन उन लड़खड़ाते, फटफटाते झीं-झीं करते छकड़ोंपर पढ़नेको जाती हैं। यह हमारे दिमागका दीवालियापन नहीं तो और क्या है? परदेकी कुरीति जिस दिमागमें घुसी हुई है वह और क्या आविष्कार कर सकता है?

एक और किस्सा सुनिये। अवधके एक रईसके गावमें हैजेकी बीमारी भयानक रूपमें फैल गई थी। स्त्रियोंको लखनऊ ले जाना आवश्यक हो गया। मामला टेढ़ा था। सदा परदेमें रहनेवाली घरकी असूर्यम्पश्या देवियोंको गांवसे स्टेशन और फिर लखनऊ स्टेशनसे कोठी तक पहुंचाना कोई आसान काम न था। बड़ी भारी समस्या खड़ी हो गई। बड़े सोच विंचारके बाद उपाय ढूंढ़ निकाला गया। जितनी स्त्रियां थीं, उतने डोले मंगवाये गये। स्त्रियोंको डोलोंपर बिठाकर कहार स्टेशन ले गये। डोलोंको उसी प्रकार सवारी गाड़ीमें ले जाना सम्भव नहीं था। मालगाड़ीके डिब्बे ठीक किये गये। उनमें डोले ज्योंके त्यों चढ़ा दिये गये। लखनऊमें वैसे ही बन्द डोले उतार दिये गये और कोठीमें जाकर उन मानव पक्षियोंको उन पिंजरोंमेंसे बाहर निकाल बड़े पिंजरोंमें बन्द कर दिया गया। क्या कभी पुरुष भी अपने साथ ऐसे व्यवहारका होना पसन्द कर सकता है? नहीं, परदेकी मर्यादा तो केवल स्त्रियोंके लिये है। इसलिये उनके अन्यायोंका शिकार भी उनको ही बनना पड़ता है।

अजमेर स्टेशनकी कुछ वर्ष पहिले देखी हुई घटना आज भी आँखोंके सामने बनी हुई है। जोधपुरी फेंटा बाँधे हुए एक सज्जन, जिन्हें प्रचलित भाषामें 'जेण्टल मैन' कहना चाहिये, चार पांच साथियोंके साथ स्टेशनपर आये और आते ही लगे सामने खड़ी हुई गाड़ीके एक डिब्बेकी सब खिड़कियाँ बन्द करने। गरमीके उस मौसममें वैसा प्रबन्ध करनेका अर्थ समझना कठिन था। थोड़ी ही देर बाद एक डोली आई। चारों ओरके परदोंके ऊपर भी एक सफेद चादर लपेटी हुई थी। डोलीको डिब्बेके दरवाजेके साथ
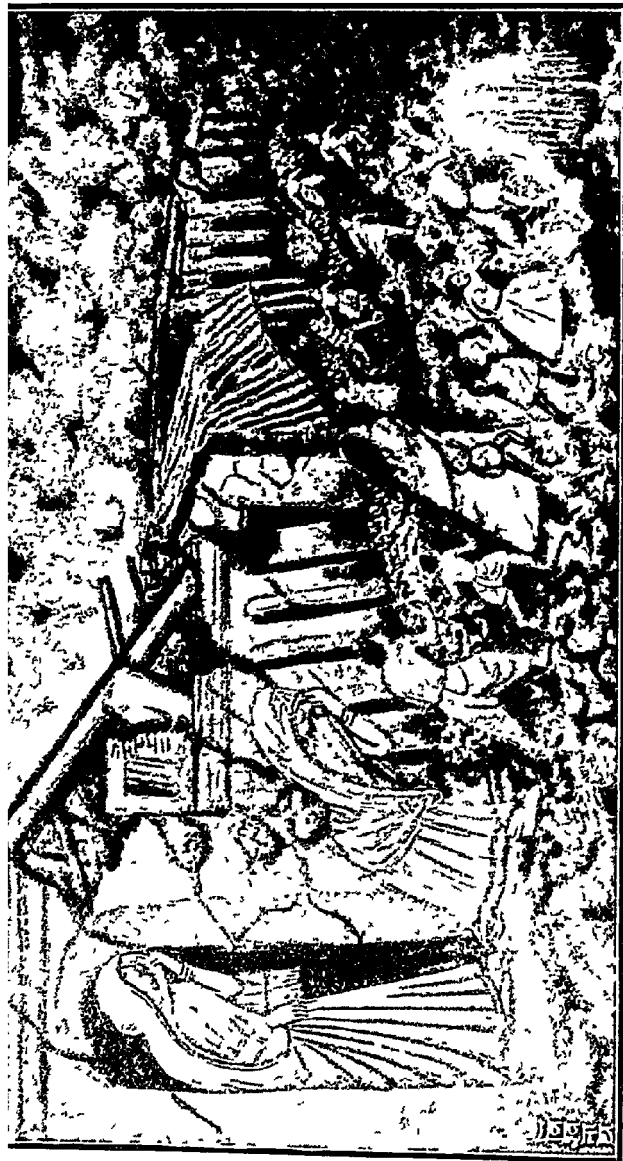
परम्परासे परदेकी कट्टरताके कारण विहारमें प्रलयकारी भूकम्पके समय आपत्कालमें जान बचानेके लिये भी स्त्रियोंको घरसे बाहर निकलनेका साहस न हुआ और हजारोंकी संख्यामें मकानोंके गिरनेसे दब कर मर गईं ।

लगाकर दोनों ओर कनात तान दी गई और ऊपर भी एक कपड़ा चढ़ा दिया गया। सुना तो बहुत था, पर देखा था पहिली ही बार। पास खड़े हुए मित्रोंसे पूछनेपर पता चला कि राजपूतानाके श्रीमानों के बड़प्पनकी वह निशानी है। उस प्रान्तके माहेश्वरियों, ओसवालों, चारणों, खत्रियों और भार्गवोंमें परदा इसी कठोरताके साथ किया जाता है और परदेकी सब कुरीतियां उन समाजोंमें वैसी ही भरी पड़ीं हैं। राजपूतोंकी अवस्था भी कुछ अच्छी नहीं है। किसी जाति विशेष पर कोई आक्रमण करना या लाञ्छन लगाना बुरा है, फिर भी यह कहना पड़ता है कि राजपूतानेका परदा मूर्तिमान बेहूदगी है। सूर्यकी किरणों और हवाके झोकोंसे बचा कर रखी गई गृहदेवियां घरमें विवाह आदिका मांगलिक अवसर उपस्थित होनेपर जब सप्तम स्वरमें सामगान करती हुई बाजारोंमें निकल जाती हैं, तब किस विचारशील व्यक्तिका सिर मारे लज्जाके नीचे नहीं झुक जाता? सिरके पीछे लम्बी चोटी लटकाए और सामने रेलगाड़ीके इञ्जिन का-सा 'सर्चलाइट लगाये, अपनेसे भी आगे भागनेवाले भारी घाघरेके ऊपर नंगा पेट लिये और दो अंगुली तानकर एक आंखका परदा किये, जब वे आभूषणोंसे लद और शृङ्गारके पूरे साज-सामानसे सज धज कर बाजारोंसे गुजरती हैं, तब वे किसकी ओछी दृष्टिसे बच पाती हैं और तब परदा करनेका अर्थ क्या रह जाता है? वे ही असूर्यम्पश्या देवियां उसी वेशमें उसी प्रकार गाती हुई वैसे ही अवसरों पर कुम्हारके घर चाक पूजने, धोबीके घर गधेको तिलक लगाने और सड़कोंके चौराहों पर पूरी तथा मिठाई चढ़ाने जा सकती हैं, किन्तु घरमें किसी जान-पहिचानवालेसे

आपत्ति या संकटमें भी मुंह खोलकर बात नहीं कर सकतीं। परदे में रहनेवाली देवियां पुत्र-प्राप्तिके लिये नंगे साधु फकीरों को खोजती फिरती हैं और उनके गुप्त अंगों तक की पूजा करती हैं! नंगे नाथूरामको खुले बाजार बिठाकर वे ही परदानशीन गृहदेवियां पुत्र-कामनाकी इच्छासे उसके गुप्तांगकी पूजा कर लज्जाको भी लजाती हुई लज्जित नहीं होतीं। जिस जोधपुरमें परदेकी मर्यादाका पालन अत्यन्त कठोरताके साथ किया जाता है, वहां महामारी फैलनेपर उसके प्रतिकारके लिये रातको गृहदेवियोंका एक जलूस निकलता है। सबकी सब बिलकुल नंगी हो हाथोंमें मूसल ले गालियां बकतीं हुई निकलती हैं! राजपूतोंके लिये एकसे अधिक पत्नी रखना साधारण बात है। एक पत्नी पर सन्तोष रखनेवाला शायद ही कोई जागीरदार हो। यह सब पाप और अनाचार सहन किये जा सकते हैं, किन्तु गृहदेवीकी आंखोंपर से कपड़ेको हटाकर गृहकार्यमें उसको अधिक कुशल बनाना सहन नहीं किया जा सकता! कैसी उलटी समझ है?

पंजाबके बाहर यह समझा जाता है कि पंजाबसे परदा उठ चुका है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पंजाबमें परदा उतना कठोर, क्रूर और बेतुका तो नहीं है, जैसा कुछ अन्य प्रान्तोंमें है, किन्तु परदेका ढोंग जितना पंजाबमें है, उतना शायद किसी और प्रान्तमें नहीं है। परदेके नंगेपनमें भी पंजाब राजपूतानासे पीछे नहीं है। इधर पढ़ी-लिखी स्त्रियों और लड़कियोंने अपने वेश-भूषा रहन-सहन और आचार-विचारका बहुत कुछ सुधार कर लिया है, किन्तु सारे प्रान्तकी अवस्था अभी नहीं बदली है। शहरोंकी गलियोंमें दुपहरके समय पञ्जाबी स्त्रियोंकी टोलियांकी टोलियां

बैठ जाती हैं। चरखा कातने, बीज निकालने या घरका कोई और काम करनेमें वे ऐसी तन्मय हो जाती हैं कि उनको अपने कपड़े आदिका कुछ भी ध्यान नहीं रहता, वे उस अर्द्ध नग्न अवस्थामें बैठी रहती हैं, फेरीवाले, खोमचेवाले, बरफ-कुलफीवाले और कपड़ेवाले उन गलियोंमें उनके आगे पीछे घूमते रहते हैं और वे उसी अवस्था में बैठी हुई उनसे मोल-तोल आदि करती रहती हैं। किसी परिचित के आ निकलनेपर मुंहके आगे पंखा कर लिया जाता है, या जरासी पीठ मोड़ ली जाती है। बस, इतनेहीमें परदेका ढोंग पूरा हो जाता है। सब बदनको ढकने या देहके बाकी वस्त्रको ठीक करनेकी कोई जरूरत नहीं समझी जाती। जिन्होंने कभी किसी पञ्जाबी घरमें 'स्यापा' होते देखा है अथवा पञ्जाबी स्त्रियोंको 'स्यापे' के जलूसमें जाते देखा है, उनको पञ्जाबी परदेकी बेहूदगी और ढोंगको समझाने के लिये कुछ अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं है। बरातियोंको गाली प्रदान करने और सड़कों पर चलते हुए गाली-महास्त्रोत्रका पञ्चम स्वरमें गान करनेमें वे राजपूताना और संयुक्त-प्रान्तकी बहिनोंसे पीछे नहीं हैं। सबसे बड़ी बेहूदगी तो यह है कि परदा तो छूटता नहीं, किन्तु घाघरा छूटता जा रहा है और उसका स्थान ले रहे हैं महीन-महीन धोतियां, जिनके नीचे पेटीकोट भी नहीं पहिना जाता है। फैशनमें पञ्जाब भारतका फ्रांस है और अमृतसर तथा लाहौर भारतके पेरिस हैं। पुरानी स्त्रियोंमें भी फैशनकी यह बीमारी फैल रही है। वे अधिकतर बिना पेटीकोटके मैनचेष्टरकी पतली धोतियां पहिन कर घरमें ही नहीं रहतीं, किन्तु गलियों और बाजारोंका काम-काज भी उन्हींमें कर आती हैं। पञ्जाबमें यह ढोंग, नंगापन और बेहूदगी कुछ तरक्की पर ही हैं।

बिहारका परदेकी कठोरतामें और बङ्गालका परदेके अत्याचार में पहिला स्थान है। इन पंक्तियोंमें परदेकी बेहूदगियों पर विचार करते हुए उसकी कठोरता और अत्याचारके सम्बन्धमें कुछ लिखना अप्रासङ्गिक होगा। इन विषयोंकी चर्चा यथास्थान की जायगी। इस प्रकरणको समाप्त करनेसे पहिले एक और लेखक की आपबीती घटनाको यहां उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। उसने उस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—"इस समय हमारे इस परदेकी कैसी पापपूर्ण और हास्यास्पद स्थिति हो रही है? इसके दृष्टान्तमें स्वयं भुगती हुई एक घटना हर समय मेरी आंखोंके सामने उपस्थित रहती है। मैं अपने एक मित्रके यहाँ निमंत्रणमें एक दिन उसके घर पहुंचा। वे उस समय बाहर काम पर जा चुके थे और घरमें स्त्रियों के अलावा बाहर केवल एक मुसलमान दरवान बैठा हुआ था। मैं थका हुआ और भूख-प्याससे सताया हुआ था, किन्तु मेरा आतिथ्य सत्कार वहां कौन करता? विचारा दरवान तो मुझसे केवल गप्पें लड़ानेके लिये तैयार था और घरवालियां परदानशीन थीं। भला मेरे सामने कैसे आतीं? हां, पासकी कोठरियोंसे किवाड़ोंके शीशों से बराबर कई आंखें मुझे घूरती हुई दीख पड़ती थीं। मुझे भी उनकी ओर ताक-झांक करनेमें कोई रुकावट नहीं थी। यह अनुचित और दूषित वायुमण्डल उत्पन्न किया जा सकता था, किन्तु स्वभाविक सच्चे आतिथ्य-सत्कारके नाते मुझसे एक गिलास पानीके लिये पूछना अनाचार समझा जाता। अन्तमें व्याकुल होकर मुझे तो सड़कके किनारेके नलके गरम गरम पानीसे अपनी प्यास शान्त करनी पड़ी। उधर एक नौजवान फेरीवाला

फैंसी चीजें लिये हुए आया और वे रोकटोक धड़धड़ाता हुआ घरके भीतर चला गया। वह आध घण्टा तक घरमे रहा। बात यहां ही समाप्त नहीं हुई। रातको मैं अपने मित्रके साथ एक बारातमें शामिल हो जीमनेको गया। और बने-ठने पुरुषोंकी एक बड़ी भीड़ भोजन करने बैठ गई। इसी समय निकटकी अटारियों परसे उपस्थित जन-मण्डली पर गालियोंकी बौछार पडने लगी। वहां हमारी वही गृह-देवियां थीं, जो परदा-नशीन और असूर्यम्पश्या कहलातीं हैं, जिन्हें अपने घर वालोंके सामने भी मुंह खोलनेमें लज्जा लगती है, जो पिता-तुल्य श्वसुरके सामने भी सिकुड़कर बैठ जाती हैं, जो अपने पतिसे भी खुले आम कायदेसे बोलनेका साहस नहीं कर पातीं हैं और जिन्हे अपने सगे सम्बन्धियोंको भी एक गिलास पानी तक देना नहीं सिखलाया गया है। वह परदा और यह आचार। हृदय आज भी उस कल्पना मात्रसे कांप उठता है। क्या यह लज्जाकी पराकाष्ठा नहीं है कि धर्म के नाम पर जौहर करने वाली आर्य देवियोंके मुंहसे अपने सम्बन्धियोंके लिये ऐसे शब्द निकले, जिन्हें पतित से पतित भी कहनेमें संकोच कर जायगा। क्या हम अपनी निर्लज्जता और बेहूदगीको परदेमें छिपा रखनेके लिये ही उसका समर्थन नहीं करते? इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है?"

जब कि सबकी सब परदा प्रथा ही आश्चर्यका विषय है, तब इससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें भी आश्चर्यसे भरी हुई क्यों न हों? इसीसे हिन्दु-समाजकी परदानशीन अबलायें दूसरोंके कौतुककी सामग्री बन गई हैं। इसपर भी हिन्दू समाजका न चेतना संसारकी एक अनोखी घटना है और यह घटना हिन्दू समाजके पतनका सबसे बड़ा प्रमाण है।

———:०:———

३

परदेका पाप

—::※::—

"स्त्रियों में भी जीवन है, मनुष्यत्व है, उन्हें भी सूरजकी रोशनी और प्रकृतिकी खुली हवा पानेका अधिकार है,—अभी तक बीसवीं सदीमें ये बातें भी जिनको समझानी पड़ती हैं, उनकी मूढ़ता और जहालतका भी कोई ठिकाना है? बीस वर्षमें अपने सार्वजनिक जीवनके अनुभवसे मैं इस परिणाम पर पहुंची हूं कि परदा जितना व्यभिचारका कारण और आड़ है, उतना कोई और चीज नहीं। परदेके पक्षपाती कभी अपने विचारोंकी स्पष्ट परीक्षा नहीं करते, क्योंकि उनकी बातोंमें कोई सम्बद्धता नहीं है। वे अपने दिलसे पूछें कि वे स्त्रियोंको क्या समझते हैं? जीवनके किसी क्षेत्रमें वे स्त्रियोंको आने नहीं देना चाहते। गृहस्थीकी चिन्ता ही उनके विचारमें स्त्रियोंका एक मात्र कार्य है। लेकिन यह भी कहां? गृहस्थीकी चिन्ता भी वे उनको स्वतंत्र प्राणी और मनुष्यकी तरह नहीं करने देना चाहते। वे उन्हें खुली हवा और रोशनी तकसे वंचित कर दासियोंकी तरह बन्द रखकर उनसे काम लेना चाहते हैं! लेकिन दास या कैदी निश्चित दायरेमें बन्द रहते हुए भी उसमें तो स्वतन्त्र रहते हैं और अपने नियत कार्य या मेहनत-मजूरीमें लगे रहते हैं। वे धनी मनुष्यकी अर्थ तृष्णाके मूक और अभागे साधन हैं। हमारे 'अमीर और 'कुलीन' समाजमें ही अधिक परदा है। इन 'कुलीन' और 'अमीर' घरोंकी परदानशीन स्त्रियोंको मेह-

नतका कोई काम भी तो नहीं करना होता। फिर उनके समूचे जीवनका प्रयोजन क्या है ? क्या उनका एक मात्र कार्य और प्रयोजन, उनके जीवनका सर्वस्व- पुरुषोंकी काम वासनाकी तृप्ति करना ही नहीं है ? वे पुरुषकी काम-तृष्णाको पूरा करनेकी वैसी ही साधन मात्र हैं, जैसे कि दास स्वामीकी अर्थ तृष्णाको पूरा करनेके साधन हैं। विवाहका इस समयका संस्कार इस साधन और सामग्रीको प्राप्त करनेका कानूनी उपाय है। वह परदा पक्षपातियों की विवाह और दाम्पत्य सम्बन्धकी कल्पना जड़से ही एक मात्र व्यभिचारकी कल्पना है, स्त्री उनकी दृष्टिमें केवल विषय भोगकी सामग्री है और उनके दाम्पत्य जीवनका आदर्श केवल कानून और समाजसे स्वीकृत व्यभिचार है! इस मूक प्राणीको उसकी इच्छा पूछे विना एक दूसरे प्राणीके अधीन कर दिया जाय और वह उसे लगातार वन्द रखकर उससे केवल अपनी विषय-वासना की तृप्ति करे, मैं इसे व्यभिचारके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकती, भले ही उस व्यभिचार पर समाज, स्त्री-धर्मकी और कानूनकी मोहर लगी हो।'

परदाके समर्थकोंको ऊपरके शब्द सम्भवतः कुछ कठोर प्रतीत होंगे, पर उनके दुराग्रहसे समाजका घोर पतन होकर उसमें जो पापाचार फैल गया है, उसको प्रकट करनेके लिये नरम शब्द कहांसे लाये जांय ? वहिन पार्वती देवी सुप्रसिद्ध राष्ट्र कर्मिणी हैं और दृढ़ समाज-सुधारक भी। आजसे कोई तीस वर्षके पहिले वर्तमान जन्म-गत जात-पातके बंधनोंको विवाह सम्बन्धसे तोड़कर आपने पंजाबमें उस समय समाज-सुधारका आदर्श उपस्थित किया था, जब कि ऐसे बंधनोंके विरुद्ध विद्रोह करनेके लिये पैदा हुए

आर्यसमाजके नेता तक उनको तोड़नेका साहस नहीं करते थे। ऊपरकी पंक्तियां आपने तब लिखी थीं, जब कि आप सात वर्ष पूर्व बिहारमें परदा प्रथाके विरुद्ध आन्दोलनमें लगी हुई थीं। परदा-प्रथाके बाद मनुष्यने स्त्री को इस प्रकार भोग विलासकी सामग्री बनायाहै या उसको भोग विलासकी सामग्री बना लेनेके बाद परदे की कैदमें बन्द किया,—इन दोनों विषयोंके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है किन्तु यह निर्विवाद और सन्देह रहित है कि इस समय की परदा-प्रथाकी कठोरतासे समाजका केवल पतन हो रहा है और उसमें पापाचारकी ही वृद्धि होरही है? ओछे उपायोंसे ही यदि कोई सदुद्देश्य पूरा किया जा सके, तो सचाई, ईमानदारी, पवित्रता तथा सदाचार आदि परिग्रहोंकी आवश्यकता न रहे। यदि पवित्रता और पतिव्रत धर्म की रक्षाके लिये परदा प्रथा जारी की गई है, तो कहना होगा कि ओछे उपायोंसे केवल सदुद्देश्य पराजित हुआ है। दवा जहरसे भी अधिक जहरीली और प्राणघातक साबित हुई। जहरीली औषधियां शरीरके एक रोगको दबाकर सैकड़ों अन्य उपद्रव पैदा कर देती हैं। परदा प्रथा वैसी ही जहरीली है। यह तो आज तक पता नहीं चला कि उससे कौन-सा सामाजिक रोग दूर हुआ है, किन्तु जिन सैकड़ों उपद्रवोंको उसने पैदा कर दिया है, वे सब समाजमें चारों फैले हुए स्पष्ट दीख पड़ते हैं। जिन्होंने उनकी ओर से जान बूझकर आंख बन्द कर रखी हैं, उन्हें कौन जगा सकता है? न केवल स्त्री-समाजका किन्तु पुरुष-समाजका भी इस अनैतिक प्रथासे भयंकर पतन हुआ है। कितनी ही लज्जाशील, परदानशीन स्त्रियोंका केवल इसलिये पतन हो जाता है कि परदे के कारण उनके वास्तविक विवेक तथा साहस पर भी परदा पड़

जाता है और थोड़ेसे ही भुलावे या प्रलोभनमें वे तुरन्त फंस जाती हैं। उनमें संसारके व्यवहारको समझनेकी शक्ति और कुछ सोचनेकी बुद्धि नहीं रहती। 'आपद्धर्म के नामसे परदा प्रथाका समर्थन करनेवाले यह कभी नहीं सोचते कि इस आपद्धर्म ने समाजको किस आपदामें फँसा दिया है? आज समाजका भरोसा केवल परदा रह गया है। स्त्रियोंके मुंह पर दो अंगुल कपड़ा करके उनको सब प्रकारसे सुरक्षित समझ लिया जाता है। इसके बाद उनको धर्म-कर्मकी शिक्षा नहीं दी जाती, उनको उनके कर्त्तव्यका ज्ञान नहीं कराया जाता और उनको सद्गुण सदाचार तथा संयमका महत्व नहीं बताया जाता। इस प्रकार स्त्रियोंके मुंहपर ही नहीं, किन्तु पुरुषोंने अपनी बुद्धि पर भी परदा डाल लिया है। भीतर ही भीतर पाप पनपता रहता है और जघन्य से जघन्य कुकर्म होते रहते हैं। बुद्धि पर पड़ा हुआ परदा तब कुछ दूर होता है, जब उस पाप और कुकर्मका घड़ा लबालब भर कर फूट जाता है। इस प्रकार परदा-फाश होने पर भी सब सजा मिलती है, तो गरीब स्त्री को ही। उसे सब प्रकारसे असहाय बनाकर उसके पवित्र हृदयमें वासनाके पापका बीज रोपनेवाला पुरुष सदा ही दूधका धुला बना रहता है। 'अबलाओंके इन्साफ', 'विधवा प्रियम्वदाकी आत्मकथा या 'अबलाकी आप बीती कहानी' को एक बार पढ़ जाइये, सहजमें आपको पता लग जायगा कि मनुष्यकी बतायी हुई धर्मकी व्यवस्था, समाजकी मर्यादा, शास्त्रका आदेश, सदाचारकी परिभाषा, पंचोंका न्याय और ऐसी सब बातें स्त्रियोंके प्रति पुरुषके उस भयानक षड्यन्त्रका परिणाम है, जिसका प्रारम्भ किया गया है, परदेकी अनैतिक

प्रथासे केवल इसलिये कि पुरुषके सब प्रकारके अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार और पापाचार पर सदा ही परदा पड़ा रहे। स्त्रीसे थोड़ी-सी भी भूल हुई कि उसकी सजा है, घर बिरादरी-जाति समाज और अपनोंसे सब प्रकारका पूरा परित्याग और पूर्ण बहिष्कार! उस भूलका न कोई प्रायश्चित्त है और न प्रतिकार सिवा इसके कि वह हिन्दू समाज और हिन्दू धर्मका परित्याग कर दूसरोंके घर आबाद कर उनके परिवारकी सुख-समृद्धि तथा वैभव की वृद्धि करे या सब प्रकारकी लोक-लाजको तिलांजलि दे पतित जीवनको स्वीकार करे। इससे अधिक अन्याय या पाप क्या हो सकता है? विवाहिता और कुंवारीकी लाज तो फिर भी कहीं-कहीं कुछ संभाली जाती है, किन्तु विधवाकी दुर्दशाका तो कोई अन्त ही नहीं है। ससुरालमें तो वह अनाथ हो ही जाती है, किन्तु मायकेमें भी उसकी सुध लेनेवाला कोई नहीं रहता। ससुरालमें दिनरात प्रतिक्षण उसको अपमान, निन्दा तथा तिरस्कारका दीन-हीन जीवन बिताना पड़ता है और मायकेमें भी पग-पग पर उसके साथ अपवाद तथा घृणाका ही व्यवहार होता है। उसको त्यागनेका कोई न कोई बहाना, कारण या अवसर खोज निकाला जाता है। घरसे तिरस्कृत उस विधवाको समाजमें भी कहीं स्थान नहीं मिलता। दुष्टोंकी कुदृष्टिका शिकार हो वह दुनियांमें भटकती फिरती है और अन्तमें व्यभिचारका जीवन बितानेको विवश होती है। बम्बईमें एक संस्था है, जो ऐसी निराश्रिता बहिनोंको कुछ सहायता देनेका काम करती है, उसकी वार्षिक रिपोर्टके आंकड़े हिन्दू समाजके माथेपर इस प्रकार लगे हुए पाप-कलंक की

निशानी हैं। उसकी आश्रित देवियोंमें सबसे अधिक संख्या विवाहिता स्त्रियोंकी है, दूसरा स्थान है विधवाओंका और तीसरा कुंवारी कन्याओंका। जिस समाजमें परदेकी इस भीषणता और कठोरताके बाद भी न केवल विधवाओंकी, किन्तु कुंवारी कन्याओं और विवाहिता स्त्रियोंकी भी ऐसी दुर्गति है कि उनको अबला-आश्रमोंमें जाकर सहारा लेना पड़ता है, तो उस समाज की दुर्गति क्यों न हो ?

परदा जिन प्रान्तोंमें अधिक है, उनके स्त्री-पुरुषोंके पारस्परिक व्यवहारकी तुलना जिन प्रान्तोंमें परदा नहीं है, उन प्रान्तोंके स्त्री-पुरुषोंके पारस्परिक व्यवहारसे करनेपर पता चलता है कि परदा पापका न केवल उद्गम स्थान है, किन्तु उसका आश्रय स्थान भी है। महाराष्ट्रमें स्त्रियां परदा नहीं करतीं, वे रास्तेमें चलती-फिरती हिचकिचाती नहीं और घरमें भी सब काम-काज बड़ी मुस्तैदी और होशियारीके साथ करती हैं। उनके चेहरों पर तेज झलकता है। कोई पुरुष कभी उनकी ओर घूरनेका साहस नहीं करता। घरमें प्रति दिन घरके सब लोगों और विवाह आदिके मांगलिक अवसरों पर बरात तथा जात-बिरादरीके सैकड़ो पुरुषोंको वे स्वयं भोजन परोसती हैं। मर्यादा और शिष्टाचारका उन अवसरों पर स्वाभाविक तौर पर पालन होता है। 'मुंह ढांपो-मुंह ढांपो' का शासन और नियंत्रण वहां नहीं होता। न कभी पुरुषों पर गालियोंकी बौछार होती है और न कोई स्त्रियों पर ही आवाज कसता है। वासना वहां पैदा हो ही नहीं सकती, क्योंकि वहां शिष्टता और सभ्यता स्त्री-पुरुषके पारस्परिक व्यवहारमें घुल-मिलकर एक रस हो गई है। इधर परदा करनेवाले समाजोंकी अवस्था

उससे बिलकुल भिन्न है। उनमें स्त्री-पुरुषोंके नेत्र इतने कमजोर हो जाते और हृदय इतना ढीला पड़ जाता है कि परस्पर चार आखें हुई कि वासना जाग उठती है।' परदावाली स्त्रीको सामने जाती हुइ देखकर पुरुष यह जान कर संतोष नहीं कर लेता कि उसके भीतर की वही प्राणी है, जो उसके घरमें उसकी 'माँ' और 'बहिन' के रूपमें विद्यमान है। परदेके भीतरकी वस्तुके सम्बन्धमें उसका मानसिक व्यापार तुरन्त शुरू हो जाता है। वह उसके बारेमें तरह तरहके अनुमान बांधने लग जाता है। उत्सुकतासे भरे हुए हृदयसे वह उसका विश्लेषण करने लगता है। यह सब व्यापार, सीमाका यहां तक उल्लंघन कर जाता है कि उसके प्रति आवाजकशी होने लगती है। कुछ ही समय बाद दुर्व्यवहार होनेकी शिकायतें भी शुरू हो जाती हैं। परदेमें रहनेवाली र ीकी कमजोरी, साहस की कमी और विरोध करनेके भावका अभाव सदा स्वच्छन्द और उन्मत्त फिरनेवाले पुरुषको इतना निर्लज्ज और गैर–जिम्मेदार बना देता है कि वह शिष्टाचार, सभ्यता और मर्यादा सबको ही ताक पर धर देता है। दूर जानेकी जरूरत नहीं, स्टेशनोंके प्लैटफार्मों, गाड़ियोंके डब्बों और शहरोंके रास्तोंमें ऐसी कितनी ही घटनाएं प्रतिदिन घटती हैं। खुले मुंहकी स्त्रीकी ओर देखनेका दुःसाहस इतनी आसानीसे नहीं होता। परदानशीनकी ओर घूरनेकी मनाही किसीको नहीं रहती। देहली स्टेशनकी आखों देखी एक घटना है। साधारण स्थितिके एक फौजी सज्जन पानीपतकी ओरसे आये। उनके साथ उनकी परदानशीन गृहदेवी भी थी। देहलीमें उनको गाड़ी बदलनी थी। उसको प्लेट फार्म पर बिठा कर आप कहीं बाहर चले गये। लौटकर आये, तो देखा वहां कुछ भीड़ जमा थी। लोग

उसी जगहके आस-पास चक्कर काट रहे थे, जहां वे अपनी पत्नीको बिठा गये थे। उन्होंने समझा कि वे सब भी उस गाड़ीकी प्रतीक्षामें होंगे, जिससे उनको जाना है। गाड़ी आई उन्होंने पत्नीको जनाने डिब्बेमें बिठा दिया और आप दूसरे डिब्बेमे जा सवार हुए। यह देख कर वे चकित रह गये कि उस भीड़के लोग फिर उस जनाने डिब्बेके सामने आ खड़े हुए, और लगे उसमें बैठी हुई उनकी स्त्रीकी ओर घूरने। फौजी महाशयरो न रहा गया। वे धीरेसे अपनी स्त्रीके पास गये और उसका परदा ऊपर उठा कर खड़े हुए लोगोंसे बोले,—"लीजिये, देख लीजिये, खूब दिल भर कर देख लीजिये।" बस उनका वैसा करना था कि वहां खड़े हुए सब लोग नौ दो ग्यारह हो गये। फिर किसीको वहां खड़े रहने और घूरनेका साहस नही हुआ यह एकाकी घटना नहीं है। ऐसी कितनी ही घटनाएं प्रतिदिन घटती रहती हैं। फिर भी मनुष्य पापके घर इस परदेको दूर करनेका साहस नहीं करता।

अवधकी समाजिक अवस्थाके प्रत्यक्षदर्शी लेखकने वहाके सामाजिक जीवनके बारेमें लिखा है कि—"समाज सुधारमें अवध सब प्रान्तोंसे पिछड़ा हुआ है। पढ़े-लिखे विद्वान्, राजनीतिक नेता, हिन्दू महासभाके अगुआ और प्रायः आर्यसमाजी भी स्त्रियोंको परदेमें बन्द किये हुए हैं। हिन्दू-संगठन' अछूतोद्धार और नारी-समाज पर होने वाले अत्याचारों पर गरज-गरज कर व्याख्यान देने वालोंके सन्मुख भी जब स्त्रियोंको परदासे मुक्त करनेका प्रश्न उपस्थित होता है, तो वे उसकी उपेक्षा ही कर जाते हैं। यही कारण है कि अवधमें दुराचार अधिक फैला हुआ है। मैं समझता हूं कि बम्बई और कलकत्ताके वाद लखनऊमें वेश्याओंकी संख्या

भारतवर्ष में सब नगरोंसे अधिक है। इसका कारण स्पष्ट है स्त्रीके प्रति पुरुषके अत्याचारोंमें सबसे भारी अत्याचार उसको परदेमें बन्द रखना है। इससे स्त्रियां सांसारिक व्यवहारसे अनभिज्ञ रह जाती हैं वे अपने व्यवहार, बात-चीत रहन-सहन और आचार-विचारसे अपने पुरुषोंको सन्तुष्ट नहीं रख सकतीं पुरुष घरके बाहर भी स्वच्छन्द घूमता है। वह संसारके व्यवहारसे भी कुछ ज्ञान प्राप्त करता है। अपनी स्त्रीके प्रति उसका असन्तुष्ट हृदय बाहर इस सन्तोषकी खोज करता है। बाजारू औरत पर उसकी आंख जाती है। पुरुष प्रकृतिको परखने और ठगने वाली औरतको अपना जाल फैलानेमें अधिक समय नहीं लगता। इस प्रकार अनेक पुरुष पतित होते हैं और अनेक घर उजड़ जाते हैं। घरमें कैद रहने वाली स्त्री उस पुरुषके लिये बोझ हो जाती है और बाजारकी वह औरत आमोद-प्रमाद तथा मनो विलासका प्रधान साधन। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि अवधमें सदाचारी स्त्री-पुरुष हैं ही नहीं, पर यह मैं दावेके साथ कह सकता हूं कि अवधके सदाचारका दरजा दूसरे प्रान्तोंसे नीचा है और उसका एक बड़ा कारण परदेकी कट्टरता है।"

अवधके सम्बन्धमें लिखी गई ऊपरकी पंक्तियोंमें लेखकने एक सचाईका उल्लेख किया है। अपने घरसे निराश और असन्तुष्ट हो वेश्याओंके जालमें उलझने वाले सभी युवकोंके नैतिक पतनका प्रायः एक ही कारण है। वह यही कि वे अपनी स्त्रीसे दिल खोलकर कभी बात नहीं कर सकते, रातको वे कुछ समय बीतनेके बाद ही अपनी स्त्रीके कमरेमें जा पाते हैं और सवेरा होनेसे पहले ही उनको बाहर आजाना पड़ता है। रातको बत्ती जलाना और कुछ ऊंची आवाजमें

बात तक करना बुरा माना जाता है। राजस्थानके एक युवक विवाहके बाद अपनी पत्नीको पढ़ना-लिखना सिखाना चाहते थे। दिनमें समय मिलना असम्भव था। रातको चोरोंकी तरह चुपके-चुपके उन्होंने पढ़ाना शुरू किया। भेद छिपा न रह सका। अक्षर-ज्ञानका भी पाठ पूरा न कर पाये थे कि उनको अपनी उस आकांक्षा को त्याग देना पड़ा। बिहार, अवध और ऐसे ही कुछ अन्य प्रान्तों के युवक कई बच्चोंके बाप बन जानेके बाद भी अपनी स्त्रीको पहिचान नहीं सकते। उनको उसका मुंह भली प्रकार देखनेका कभी कोई अवसर नहीं मिलता। एक बार एक मारवाड़ी युवकसे सामाजिक-सदाचारके सम्बन्धमें बातचीत हो रही थी। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि हम लोगोंका दिल घरमें नहीं लग सकता। हमारे लिये वहा कोई आकर्षण नहीं रहता, सिवा इसके कि हमको वहां भोजन करना होता है। हमारी स्त्रियोंका वेश-भूषा इतना अस्वाभाविक और भद्दा है कि बङ्गाली, महाराष्ट्र, गुजराती महिला से उसकी तुलना करते ही हमारा दिल उचट जाता है। आठ-आठ दस-दस दिन तक वे सिर स्नान नहीं करतीं, जिससे भयानक दुर्गन्ध आने लगती है। पुरानी बूढ़ी स्त्रियोंके सामने हमारी एक नहीं चलती। घरकी व्यवस्था और अपनी पत्नीके वेश-भूषा और रहन-सहनको हम थोड़ा-सा भी बदल नहीं सकते। परदा यदि दो हाथका है, तो वह दो अंगुल भी कम नहीं किया जा सकता। परिणाम यह होता है कि घरसे मन फिर जाता है और बाजारकी औरतोंमें जा फंसता है। इसी प्रकार समाजका सदाचार नष्ट हो, उसमें पाप फैलता रहता है।

राजपूतानेके सम्बन्धमें वहांके पुराने कार्यकर्ता और प्रान्तीय

हरिजन-सेवा संघके अध्यक्ष श्रीरामनारायणजी चौधरीने कभी लिखा था कि—"साधारणतः जिन लोगोंमें परदेका रिवाज कड़ा है, उन्हींमें बहु-विवाहका जोर है। मुसलमानों और राजपूतोंमें एक से अधिक पत्नी रखना साधारण बात है। राजपूतानेमें एक नरेशके सिवा सबके अनेक स्त्रियां हैं और जागीरदारोंमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे आदमी हैं, जो एक पत्नी पर सन्तोष करते हैं। ऐसी परिस्थितिमें बेचारे सदाचारका स्थान ही कहां? राजपूतानेमें दास-दासियोंकी क्रूर प्रथा इसी परदेके कारण शुरू हुई है। जब अमीर स्त्रियां निकम्मी रहने लगीं, तभी गरीब स्त्रियां दासियां बना कर सेवाके लिये रखी जाने लगीं। आज राजपूतानामें इन दासियों (बांदियों) की संख्या १६ लाखसे अधिक है। इन पर मालिकोंको पूरा अधिकार रहता है। वे किसी भी दास-दासीको बेच सकते हैं, पीट सकते हैं, उसका सतीत्व लूट सकते हैं और उनको दहेजमें दे सकते हैं। अधिकार ही नहीं, व्यवहार भी ऐसा ही होता है। दास-दासियोंको खानेको जूठा और पहिननेको रद्दी पुराना कपड़ा दिया जाता है। उनसे कड़ा से कड़ा और नीच से नीच काम लिया जाता है। उनके विवाह नाम-मात्र को ही कराये जाते हैं और वैसे ही सम्बन्ध विच्छेद भी करा दिया जाता है। इस बातकी सहजमें ही कल्पना की जा सकती है कि जहां इस इस प्रकारका वातावरण हो, वहां कैसा भीषण दुराचार पैदा हो सकता है। दासियोंके अतिरिक्त परदे वाली स्त्रियोंको साधारणतः स्त्री या पुरुष नौकरोंकी भी जरूरत रहती है। इन अबलाओंका, जो क्षुधा-पीड़ित, स्वाभिमान शून्य और ज्ञान-हीन होती हैं, और साथ ही होती हैं निस्सहाय,
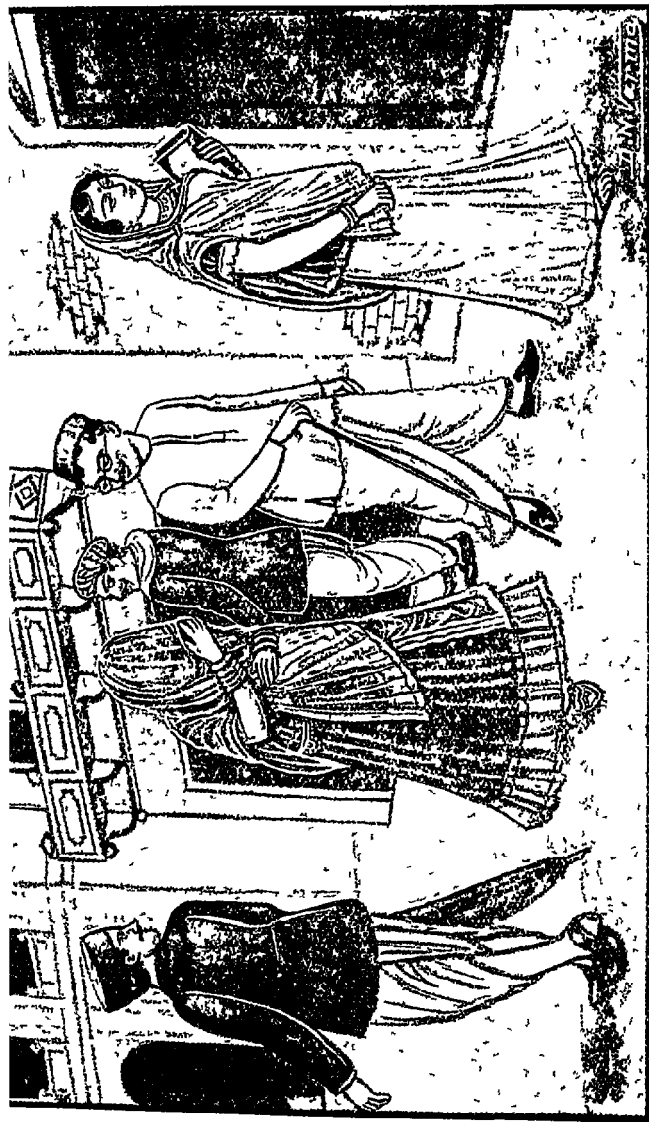
आगे बिना परदे वाली स्त्री स्वतन्त्रता पूर्वक जा रही है जिसे कोई नहीं देखता, पीछे घूंघट वाली स्त्रीको सब देखते हैं।
यह देखिये घूंघटकी महिमा।

उन पुरुष-मालिकोंसे सम्बन्ध रहता है, जो साधन-सम्पन्न होते हैं और चालाक भी। ऐसी स्थितिमें दुराचार होना स्वाभाविक है। अत्याचारके लिये भी परदेकी प्रथामें अधिक स्थान है। परदेमें रहने वाली स्त्रियों पर पुरुष यदि मार-पीट या अन्य अत्याचार करें, तो बाहर वालोंको मालूम नहीं हो पाता। स्त्री बेचारी अपनी झूठी प्रतिष्ठाके मारे किसीको कुछ नहीं कहती, कह भी नहीं सकती। पुरुष पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। वह बाहर दुराचार करे तो स्त्री की जानकारी और उसकी ओरसे प्रतिकार होनेकी सम्भावना नहीं रहती। जो स्त्रियां परदेमें नहीं रहतीं, वे इस तरहके दुराचार और अत्याचार की यंत्रणा कर सकतीं हैं।"

कठोर शासन स्वाभाविक परिणाम पाप और पतन है। जिस राज्यमें प्रजाका जीवन जितना ही कम कानूनके शिकंजेमें जकड़ा जाता है, वह उतना ही अच्छा है और उसमें जनताके जीवन का विकास भी उतना ही अधिक एवं स्वाभाविक होता है। कठोर कानूनोंके सहारे चलने वाला शासन निष्कृष्ट है। उसमें प्रजाके जीवनका न तो विकास होता है और न उसको सन्तोष तथा सुख ही मिलता है। असन्तुष्ट प्रजासे राजा भी सदा ही भयभीत तथा सशंक बना रहता है। परदेके कठोर शासनका भी यही हाल है। इससे स्त्री और पुरुष दोनोंका पतन हुआ है और शासन करने वाले पुरुषमें स्त्रीके प्रति सदा ही आशंका बनी रहती है। अपनी परदानशीन पत्नीको भी सदा सन्देहकी दृष्टिसे देखने वाले एक श्रीमान् घरसे बाहर जाते हुए दरवाजे पर ताला ही नहीं लगा जाते थे, किन्तु दरवाजेके सामने राख भी बखेर देते थे, जिससे यदि कोई ताला खोलनेके लिये आनेका साहस करे, तो उसके पैरके चिन्होंसे उसका पता लगाया जा सके।

बंगालमें नारी-निर्यातनकी समस्याको लेकर एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा किया जा रहा है। बंगालमें नारी-अपहरणकी दुर्घटनाएं प्राय: होती रहती हैं। अदालतमें ऐसे मामले बहुत बड़ी संख्यामें बने रहते हैं। समाचार-पत्रोंके कालम भी ऐसे समाचरोंसे रंगे रहते हैं। राजपूतानामें परदेकी कठोरताने बेहूदगीको जन्म दिया है, पञ्जाबमें उसने ढोंगको पैदा किया है और अवधमें उसने व्यभिचारकी सृष्टि की है, इसी प्रकार बंगालमें उसने अत्याचार तथा अनाचारको उत्पन्न किया। नारी-अपहरण या नारी-निर्यातनकी दु:साध्य प्रतीत होने वाली यह पापपूर्ण समस्या क्या परदासे उत्पन्न हुए अत्याचार और अनाचारका ही परिणाम नहीं है? जिस प्रान्तमें स्वनामधन्य राजा राम-मोहन रायने जन्म लेकर स्त्री-जातिके प्रति सती प्रथाके रूपमें होने वाले भयङ्कर अत्याचारको सारे ही देशसे उठा दिया, जिसमें प्रात:-स्मरणीय श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने पैदा होकर विधवाओंके पुन-र्विवाहका मार्ग खोल उनके कष्टोंको कम किया, जो भारतको सभ्य बनानेका दावा करने वाले पश्चिमीय लोगोंके संसर्गमें सबसे पहिले आया, जिसमें लोगोंका दिमाग खोलनेका दम भरने वाली, पश्चिमीय शिक्षाका सबसे पहिले सूत्र-पात हुआ और जिसमें ऐसे ही सब पापों का अन्त करनेके लिये ब्रह्म समाजकी स्थापना हुई उनकी स्त्रियों को आज भी परदेका कठोरतम जेल-जीवन बिताना पड़ रहा है, और उससे पैदा हुए अनाचार एवं अत्याचारको इस बुरी तरह झेलना पड़ता है, यह सचमुच अपने दिमाग और शिक्षा का अभिमान रखने वाले बंगालियोंके लिये लज्जास्पद है। शामको बत्ती जलते-न-जलते एक बार कलकत्ताके उत्तरी भागमें घूम तो

जाइये, लज्जाको भी लजाने वाले दृश्य देख कर माथा नीचे झुक जायगा। बहू बाजार, चितपुर रोड और उनके आस-पासकी बस्तियां देख कर यही प्रतीत होने लगता है कि कलकत्ता वेश्याओंकी ही बस्ती है! दो अंगुल कपड़ेके पीछे अपनी लाजको संभाल रखने वाले हिन्दू-समाजकी लाज पैसोंमें बिकती हुई देख कर भी जो आंखें खोलना नहीं चाहते, उनको कौन समझा सकता है? उनके भगवान् भी उनकी बुद्धियों पर पड़े हुए परदेको दूर नहीं कर सकते। बंगालमें नारी-निर्यातनकी समस्याके सामने ही वेश्याओंकी समस्या भी कुछ कम विकट नहीं है। नवद्वीप और ऐसे ही अन्य स्थानोंके दृश्य भी कुछ कम भयानक नहीं हैं। परदेको दूर किये बिना—नारी-निर्यातनकी समस्याको हल करना वैसे ही असम्भव है जैसे कि विषैले वृक्षकी जड़ोंको न काट केवल उसके पत्तों और टहनियोंको तोड़ कर उसको नष्ट करना सम्भव नहीं है। नारीको नितान्त, असहाय, निर्बल तथा अबोध बना कर और साभिमान उसका नाम 'अबला' रख कर उससे आशा की जाती है कि वह ऐसे सङ्कटोंसे अपनी रक्षा स्वयं करे! परदेमें बन्द रखी जाने वाली स्त्रियोंको जब घरसे बाहर निकाला जाता है, तब वे एक बहुत ही करुणाजनक दृश्य उपस्थित करती हैं। वे अपाहज, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ और जड़वत् प्रतीत होती हैं। न अपना रास्ता ढूंढ़ सकती हैं और न अपने सामानको ही संभाल सकती हैं। घरमें और बाहर हर जगह वे परावलम्बिनी बनी रहनेको बाध्य हैं। वे कहीं भी अत्याचारका प्रतिरोध या प्रतिशोध नहीं कर सकतीं। उनकी मनोवृत्ति दब्बू, भीरु, कायर और दासताकी बन जाती है। सत् असत् आचार-विचारका उनको ज्ञान नहीं होता। उन्नति-प्रगति

आदिके सद्गुण उनके स्वभावमेंसे नष्ट हो जाते हैं। पुण्य और पाप, उत्थान और पतन, भलाई और बुराईका वे विवेचन नहीं कर सकतीं। उनके विवेक पर सदाके लिये परदा पड़ जाता है। स्वच्छ वायुका खुला सेवन करने और जगत्के नैसर्गिक दृश्यों का आनन्द लेने वाली स्त्रियोंमें आपत्तियोंका सामना करने और उनसे बच निकलनेकी जो स्वाभाविक सूझ रहती है, वह परदेके पिंजरोंमें बन्द रहने वाली इन चिड़ियोंमें कहांसे पैदा हो? बंगालकी इतनी शिक्षा और जागृतिके बाद भी अधिकतर ऐसी ही अवस्था है।

उन सभी प्रान्तोंमें बंगाल और अवधकी-सी ही पापमयी दुर-वस्था पाई जाती है, जिनमें परदेकी कट्टरता और कठोरता वैसे ही उग्र रूपमें बनी हुई है, अपने चारों ओर बबूलके पेड़ लगाकर मनुष्य आम खानेकी इच्छा करता है। भीतर बाहर सब ओर परदेके पाप की सृष्टि रचकर वह अपनी गृहस्थीको स्वर्ग बनाना चाहता है। दुःखका सब सामान यत्न पूर्वक बटोर कर वह सुखकी आशा करता है। टूटी हुई नावपर सवार हो वह भवसागरके उस पार पहुंचनेका यत्न कर रहा है! इस मूर्खताकी भी क्या कोई सीमा है? अपने अर्धाङ्गको जब अपने हाथोंसे मनुष्य स्वयं पापके कीचमें ढकेलता है, तब उसके छींटोंसे वह अपनेको कैसे बचा रह सकता है? उसके हाथ और कपड़े उस पापसे बिना भरे नहीं रह सकते। अब वह समय आ गया है, जबकि मनुष्यको अपना स्वार्थ, हठ और दुराग्रह छोड़ कर विवेकसे काम लेना चाहिये और पापका घड़ा भरकर फूटनेसे पहिले ही सचेत हो जाना चाहिये। जो प्रथा इतनी पापमय है जिसका आधार इतना कुत्सित है और जिससे केवल सदुद्देश्य पराजित हुआ है उसको अविलम्ब दूर करनेमें ही उसका लाभ और भला है।

४

परदेके दुष्परिणाम

—:※:—

अन्याय अन्यायी और पीड़ित दोनोंके पतनका कारण होता है। वह उसको सहन करने वालेके साथ-साथ उसका भी नाश कर डालता है, जो उससे काम लेता है। कैदीकी चौकसी करने वाला सिपाही भी उसी अंशमें कैदी है। कैदी निश्चिन्त होकर सो सकता है, किन्तु सिपाही नहीं। वह कैदीसे भी बढ़कर कैदी है। इसी प्रकार परदा न केवल स्त्रियोंके शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतनका कारण हुआ है, बल्कि उससे पुरुषोंका भी वैसा ही पतन हुआ है और अन्तमें सारा देश ही घोर पतनकी खाईमें आ गिरा है। न केवल प्राचीन सभ्यताका अभिमान करने वाले भारत का ही ऐसा पतन हुआ है, वरन् कोरिया, चीन, अरब, ईरान, मिश्र, स्याम और टर्की—सभी देश जो कभी अपनी सभ्यताके बल पर आकाश चूमते थे, रसातलमें पहुंच गये। केवल इस लिये कि ये सब परदा-प्रथाके कट्टर समर्थक बन गये, अपने अर्धाङ्गकी, जिसको उत्तम अर्धाङ्ग माना गया है, इस प्रकार अवहेलना करनेका सिवा पतनके और परिणाम क्या हो सकता था? हिन्दू धर्मकी आदि स्मृतिके रचयिता मनु-महराज भी यद्यपि स्त्रियोंकी पूर्ण स्वतन्त्रताके समर्थक नहीं हैं, तथापि वे लिख गये हैं कि—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वासफलाः क्रियाः।' इसका स्पष्ट आशय यह है कि जिस

देश, समाज या जातिमें स्त्रियोंकी मान-प्रतिष्ठा की जाती है, उसमें सब सद्गुणोंका विकास होकर वह उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है और जिसमें उनको अपमान अथवा तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा जाता और उनकी अवहेलना की जाती है, उसके सद्गुणों-का नाश होकर उसका पतन हो जाता है। मनु महाराजका यह सद्वचन उन सब देशोंपर पूरा उतरता है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। इङ्गलैंडका प्रसिद्ध दार्शनिक कारलाइल तो और भी आगे बढ़ गया है। वह वस्त्रोंके दार्शनिक विचारकी गहराईमें यहां तक पहुचा है कि उसने लिखा है कि कपड़ा पहिननेकी आदत डालकर मनुष्यने अपनी देहको ही नहीं ढका है, किन्तु अपनी आत्मापर भी वह आवरण डाल लिया है जो सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन करनेमें बाधक हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि वस्त्रोंके आविष्कारसे मनुष्यकी स्वाभाविकता नष्ट हुई है और उनकी विलासिताने मनुष्यको भोगी एवं व्यसनी बनाया है। परदा उस विलासिताकी ही निशानी है और उसके द्वारा होनेवाला पतन उस भोग-विलास एवं व्यसनका चिह्न है। परदेकी कुप्रथाके श्रीगणेशके साथ ही मनुष्यने अपने सच्चे स्वरूपको भुलाना आरम्भ किया और इस प्रकार स्त्री-पुरुषके लक्ष्य-भ्रष्ट होनेसे सारे समाजका पतन हुआ।

स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध आज इतना नाज़ुक क्यों बन गया है? मनुष्यकी लम्बी नाक भाई-बहिनके पवित्र सम्बन्धके खुले व्यवहारमें भी क्यों पापकी दुर्गन्ध अनुभव करने लगी है? कन्याके शरीरका थोड़ा-सा भी विकास होना शुरू हुआ कि माता-पिताके शिरपर चिन्ताका भूत क्यों सवार जाता है?

उसकी रखवारी इतनी कठोरताके साथ करनेकी कौन-सी नई जरूरत पैदा हो जाती है? क्यों उसको छुई-मुई मान लिया जाता है? क्यों उसको पुरुषकी दृष्टि तथा छायासे भी छिपा रखनेकी कोशिशें की जाने लगतीं हैं? आज कलका समय और वातावरण क्यों इतना दूषित और पापमय वन गया है? जिन ऋषियोंके आश्रमोंमें लड़के और लड़कियां इकट्ठा रहकर न केवल विद्याध्ययन करते थे, वरन् स्वच्छन्द खेलते-कूदते प्रकृतिका नैसर्गिक आनन्द लूटा करते थे, आज उन्हींकी सन्तानोंके वन्द घरोंमें भी सन्देह और आशङ्काका वातावरण क्यों वना रहता है? ऐसे सव प्रश्नोंका एक ही उत्तर है कि स्त्री और पुरुषके पारस्परिक सम्वन्धको भुलाकर उन दोनोंके वीचमें परदेकी दीवार खड़ी कर दी गई है और इस प्रकार अलग-अलग कर दिया गया है कि स्वाभाविक तौरपर उनका मिलना-जुलना भी पाप माना जाने लगा है। परदेके साथ पापकी भावनाका कुछ ऐसा सम्वन्ध जुड़ गया है कि परदा न करने वाली स्त्री और उससे वात करने वाला पुरुष दोनोंके चरित्रको सन्देहकी दृष्टिसे देखा जाता है और पारस्परिक व्यवहारके वारेमें तरह-तरहके सङ्कल्प-विकल्प करते हुए उनके जीवनको संकटापन्न वना दिया जाता है, समाजके सव व्यवहारको सन्देहास्पद वनाकर उसके नैतिक-पतनके मार्गको प्रशस्त वना दिया है। 'संशयात्मा विनश्यति'—'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'—आदि वचन परदानशीन समाजोंकी अवस्थापर सोलह आना ठीक वैठते हैं। सन्देहकी वृत्ति वाला विवेक-भ्रष्ट हिन्दू-समाज इस प्रकार पतनकी गहरी खाईमें गिरनेके वाद भी यदि उठना नहीं चाहता, तो उसका उद्धार कैसे हो सकता है?

विनय, प्रेम, दया ममता, स्वार्थत्याग, आत्मोत्सर्ग, सहनशीलता, सहृदयता और सहानुभूति आदि सद्गुणोंका नारी आगार है और पुरुषमें बल, पौरुष, कठोरता, स्वार्थ, स्पर्धा, पराक्रम और वीरता आदि गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। बत्ती और तेल दोनों मिलकर जब जलते हैं, तब घरमें दीपकसे प्रकाश होता है। ठीक इसी प्रकार पुरुषके गुण तब चमकते हैं, जब मनके साथ स्त्रीके सद्गुणोंका मिश्रण होता है और स्त्रीके सद्गुण तब चमत्कार दिखाते हैं, जब उनके साथ पुरुषके गुणोंका सम्पर्क होता है। सृष्टिकी रचनामें पुरुष बीज-स्थानीय है तो स्त्री माता वसुन्धराके सदृश उसको धारण करनेवाली है। दोनों अलग-अलग रहें, तो सृष्टिकी रचनाका सब व्यापार ही बन्द हो जाय। पुरुषने स्त्रीको परदेमें बन्द रखकर इस व्यापारको तो बन्द नहीं किया, किन्तु दोनोंके सद्गुणोंके विकासको उसने निश्चय ही रोक दिया है। आज समाजके व्यवहारमें वह सौन्दर्य नहीं रहा, उसके स्वभावमें वह सौम्य भाव नहीं पाया जाता और उसके नैसर्गिक सौजन्यका भी प्रायः नाश हो गया है। स्त्रीके तो सब सद्गुणोंपर परदा पड़ ही गया है और पुरुषके सद्गुण भी कठोरता, क्रूरता, निर्दयता, प्रतिस्पर्धा और प्रतिहिंसा आदि अवगुणोंमें परिणत हो गए हैं। इस प्रकार स्त्रियां जड़वत् हो गईं, विवेक के साथ उनकी चेतना भी नष्ट हो गई। पुरुष पशु बन गया, अपने सब व्यवहारमें उसने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त कायम कर लिया। स्त्रियोंके साथ तो वह बस इसी सिद्धान्तसे काम लेने लग गया। जिन सद्गुणोंके साथ स्त्री और पुरुष इस

संसारको स्वर्ग बनानेके लिये भेजे गये थे, पुरुषके इस पाशविक व्यवहारसे वह नरक बन गया है। संसारमें जन्म लेने वाले प्राय: सभी महान् पुरुषोंने पुरुषकी इस पाशविक वृत्तिकी निन्दा की है और खतरेका घण्टा बजाकर उसको यह बताया है कि वह राक्षस नहीं देवता है, पशु नहीं पुरुष है और नरक नहीं स्वर्गकी सृष्टि करना उसका एक मात्र कर्तव्य है। पर, जो मनुष्य बार-बार समझानेपर भी बीड़ी पीनेकी मामूली-सी आदत नहीं छोड़ सकता, उसके लिये वंश-परम्परागत अपने इस स्वभावको और स्त्री जातिके प्रति अपने व्यवहारको बदलना प्राय: असम्भव है। इसका दुष्परिणाम समाज यह भोग रहा है कि दैवीय सद्गुणोंका निरन्तर ह्रास हो रहा है और उसमें राक्षसी अवगुण दिन प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। जिस देशकी वीर पुत्रियां देश और धर्म पर बलिदान होनेमें, हंसते-हंसते रणक्षेत्रमें प्राणोत्सर्ग करनेमें और जौहर व्रत धारण कर धधकती हुई आगमें कूदनेमें किसी समय संसारके स्त्रीत्वको गौरवान्वित करती थीं, आज वे नारियां कैदीका जीवन रही हैं और उनके सद्गुण जंगलमें पैदा हुए फूलोंकी तरह बिना प्रयोजन ही मुरझा जाते हैं। समाजको गौरवशाली बनाने वाली कितनी पूंजी यों नष्ट होती रहती है? एक-एक पैसेकी रोकड़को मिलानेमें सारी रात जागकर बिता देनेवाला व्यापारी हिन्दूसमाज जब इस अपार हानि की ओरसे आंख मूंद कर पड़ा हुआ है, तब उसका दिवाला क्यों न निकले?

जेल-जीवनका लम्बा अनुभव रखने वाले एक सज्जनने लिखा है कि 'मैं ग्यारह वर्ष तक जेलके अन्दर था। जेलखाने आमतौर

पर हिन्दोस्तानी मकानोंसे ज्यादा खुले और हावादार होते हैं। फिर भी एक परिमित जगहमें रखे जानेसे मेरा स्वास्थ्य इतना गिर गया कि शरीरमें जीवनके चिन्ह बाकी न रहे, हालां कि मेरा भोजन दूसरे कैदियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा था। प्रसन्नता और चेतनता जाती रही। जेलसे बाहर आने पर दुनिया कुछ ऐसी मालूम होने लगी कि मेरा दिमाग बिगड़ गया और बिलकुल बेकार हो गया। सात महीने तक हकीम अजमल खां साहब मरहूमने मेरा इलाज किया, तो मैं इस लायक हुआ कि मनुष्योंके बीच उठ-बैठ सकूं। स्त्रियोंकी अवस्था रहमके काबिल है। वे कैदमें पैदा होती हैं और कैदीकी हालत ही में दुनियासे चल देती हैं। क्या कोई समझदार आदमी एक मिनटके लिये भी यह मान सकता है कि आजीवन ऐसी कैदमें रहने वाली रोगी स्त्रीकी सन्तानके शरीरमें बल और पौरुष, उसके दिलमें साहस और धैर्य, दिमागमें विवेक और विचारकी शक्ति तथा हाथ और पैरमें चुस्ती और चालाकी पैदा होगी?" परदा वास्तवमें ही स्त्री-जातिके लिये भयानक अभिशाप है और उसकी आजीवन कैदकी वह निशानी है। मनुष्यको हत्या या किसी अन्य भयानक अपराधके लिये मिलनेवाली अजीवन कैदकी अवधिके चौदह या कम ज्यादह वर्षोंमें पूरा होनेकी कोई आशा तो रहती है, किन्तु स्त्री रूपमें जन्म लेनेके अपराधकी सजा जब एक बार परदेके रूपमें प्रारम्भ हो गई, तब उसकी अवधि मृत्युके साथ ही पूरी होती है। इस कैदमें स्त्री जातिकी यह हालत हो गई है कि हमारे आधे अंगको लकवा मार गया है। हमारे वे जीवनके किसी भी अंगमें और किसी भी क्षेत्रमें सहायक न होकर भार हो

जाती हैं और पग-पगपर रुकावट प्रतीत होने लगती है। समाजकी इन विषमताओं और बुराइयोंको मिटानेका दम भरने वाले सुधारक भी स्त्रियोंकी इस दुरवस्थापर कुछ दया न दिखा-कर उनपर ही सब दोष मढ़ने लग जाते हैं। वे एक क्षणके लिये भी यह नहीं सोचते कि उनकी आंखोंपर ऐसा परदा डाला जा चुका है कि उन परसे कपड़ा हटा देनेके बाद भी वे देख नहीं सकतीं। दुनियांके प्रचण्ड प्रकाशमें उनकी आखें एकाएक चौंधिया जाती हैं। मुसाफिरखानेसे रेलके डिब्बे तक उनको अन्य सामानकी ही भांति सम्हालकर ले जाना पड़ता है। अनुकूल हवा, पर्याप्त प्रकाश और यथेष्ट जल न मिलनेसे कुम्हलाया हुआ फूल डालीको हाथ लगाते ही जैसे पंखड़ी-पंखड़ी होकर ज़मीन पर गिर जाता है, वैसे ही उनका दिल और दिमाग चहार दिवारियोंमें बन्द रहनेसे ऐसा मुरझा जाता है कि घरके बाहर पैर रखते ही वे सहम जाती हैं। एक लेखकने ठीक ही लिखा है कि,—"हमारी माताएं दिन रात केवल चुपचाप बन्द हवामें पड़ी हुई बुद्धि, विवेक और शक्ति सबमें लुंज हो रही हैं। काममें न आनेके कारण ईश्वर प्रदत्त शक्तियोंका केवल विकास ही नहीं रुक गया है, किन्तु वह बरबाद भी हो रही हैं। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण मैंने एक मित्रके यहां देखा था, जिनकी स्त्रियां और लड़कियां इस कारण पंगु हो रही थीं कि उन्हें एक बार एक दम सात वर्ष तक एक घरमें बन्द रहना पड़ा था। असर उन तक ही परिमित नहीं रहा, किन्तु उनकी सन्तान भी पंगु पैदा हुई थी। गांवमें आने पर उनके बच्चे महीनों तक पुरुषों को देख कर डरते रहते थे। क्या यही हालत हमारे समस्त स्त्री समाजकी नहीं हो रही है?"

बिहारी घरोंमें ऐसी आजन्म कैदमें रहने वाली बहिनोंकी दुरवस्थाका भी ब्रह्मदेवप्रसाद सिंहने कितना भयानक चित्र खींचा है! वे लिखते हैं कि —“परदेकी कठोरता और कट्टरताका ताण्डव नृत्य देहातोंमें देखनेको मिलता है। मैं अपनी आँखोंसे देख रहा हूं कि स्त्रियां शुद्ध वायु और स्वास्थ्यकर भोजनके अभावमें बहुत तेजीसे क्षय रोगका शिकार बन रही हैं। पुरुषोंकी अनियंत्रित काम-क्रीड़ा और लगातार बच्चोंके जननेसे उनका स्वास्थ्य पर्णतया नष्ट हो जाता है। स्त्री जातिका संहार प्रचण्ड वेगके साथ हो रहा है। संभ्रान्त कुलोंमें नव वधुएं आती हैं और क्षयरोगसे ग्रसित होकर चिताके रथ पर चढ़ दूसरे लोकको विदा हो जाती हैं। दूसरी बधू आती हैं और शीघ्र ही पहिलीके पद-चिन्होंका अनुसरण कर चल बसती हैं। आप गांव-गावमें जाकर देख लें! सर्वनाशके इस भयावह दृश्यको देखकर आपका कलेजा दहल उठेगा। कैसी दर्दनाक हालत है? इस भीषण मृत्यु-संख्याकी तालिका कौन तैयार करता हैं? समाजमें स्त्रियोंकी मृत्यु तो साधारण-सी बात है। यह एक प्रत्यक्ष सत्य है कि बिहारके ग्रामोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां दस गुना अधिक मरती हैं। देहातोंमें बड़े-बड़े महल बने हैं और भूकम्पके बाद भी बन रहे हैं छोटे बड़े सभी मकानोंमें ऊपर छतमें एक छोटा छिद्र तो बनाया जाता है, पर खिड़कियां नदारद रहती हैं। दिनको भी इन घरौंदोंमें बिना लैम्पके जानेकी हिम्मत नहीं होती। इन्हीं अन्धकूपोंमें स्त्रियां दिन-रात कैद रहती हैं। उन पर यदि मृत्यु-देवी इतना शीघ्र आक्रमण करती है, तो इसमें आश्चर्य क्या है?”

साधारणतया देहातोंमें रहने वाली स्त्रियोंकी अवस्था शहरोंमें रहने वाली स्त्रियोंसे कुछ अच्छी समझी जाती है। पर, ऊपर देहातोंमें

रहने वाली स्त्रियोंकी ही दुरवस्थाका दिल दहला देने वाला भयानक चित्र खींचा गया है। शहरोंकी परदानशीन स्त्रियोंकी अवस्था का चित्र और भी अधिक भयानक है। मनुष्य विपत्तिको बहुत जल्दी भूल जाता है। संकटसे मिलने वाले अनुभवसे वह विशेष लाभ नहीं उठाता। बिहारमें प्रलयका दृश्य उपस्थित करने वाले भूकम्पकी भयानक विपत्ति और उससे हुए सर्वनाशके बाद भी स्त्रियोंके-सम्बन्धमें बिहारी भाइयोंका दृष्टिकोण नहीं बदला। उस सर्वनाशमें स्त्रियोंका जो संहार हुआ, उसको वे तुरन्त ही भूल गये हैं। अच्छा होता यदि किसी बिहारी भाईने उस संहारकी दुर्घटनाओं का संग्रह किया होता और मृत्यु-संख्याकी विस्तृत तालिका तैयार की होती। उससे पता लग सकता कि पुरुषने स्त्रियोंको परदेमें कैद रख कर किस प्रकार पंगु और असहाय बना दिया है! मुजफ्फरपुर जिलाके एक गावकी दुर्घटना है। उसमे केवल तीन स्त्रिया भूकम्पका शिकार हुई थीं। उनमेसे दो बच कर घरके बाहर आ गई थीं। उसी समय सामनेसे घरके कोई बड़े आदमी आ निकले। स्त्रियां पीठ मोड़कर दीवारकी आड़में हुईं कि दब कर नीचे ही रह गईं! एक वकील साहबकी परदानशीन बीबी बिना बुरके के ही घरके बाहर निकल आई। सामने खड़े हुए पति साहब यह अनर्थ न देख सके। उन्होंने चिल्ला कर बुरके की याद दिलाई। वह बिचारी उलटे पैर केवल घर की छतके नीचे दबनेको लौट गई। मुजफ्फरपुरकी घनी पुरानी बस्तीके घरोंसे पुरुष तो भाग कर कुछ बच भी गये, किन्तु गृहदेविया न भाग सकीं। अनन्त निद्राकी गोदमें वहां ही सोयी रह गईं। मुंगेर, सीतामढ़ी और चम्पारनके शहरों और देहातोंमें भी ऐसी कुछ कम दुर्घटनाएं नहीं हुईं।

आश्चर्य है कि उनके बाद भी विहारमें वैसे ही मकान बनाए जा रहे हैं, स्त्रियोंको वैसे ही उन घरोंमें बन्द किया जा रहा है, और परदेकी कठोरता तथा कट्टरता को भी वैसी ही दृढ़ताके साथ निभाया जा रहा है।

ऊपर बिहारी पुरुषोंका स्त्रीको तुच्छ मान कर एकके बाद एक विवाह करते रहनेका जो भयानक चित्र खींचा गया है, वह प्रायः उन सभी समाजों और प्रान्तों पर पूरा उतरता है, जिनमें परदेकी कठोरता को वैसे ही कट्टरताके साथ निभाया जाता है। कायस्थों, मारवाड़ियों, खत्रियों, ब्राह्मणों और वैश्यों आदि सभी जातियोंमें इसी प्रकार स्त्रियां मरती रहती हैं और पुरुषोंके बराबर विवाह होते रहते हैं। स्त्रीको पुराने कपड़े, फटी जूती और फूटी हण्डिया समझ लिया गया है। पहिली स्त्रीकी लाश चिता पर रखते-न-रखते पुरुपके पुनर्विवाहकी चर्चा शुरू हो जाती है। स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि विधुरको विना किसी कठिनाईके विवाह के लिये लड़की तुरन्त मिल जाती है। कुंवारोंकी अपेक्षा विधुरके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेको माता-पिता अधिक आतुर रहते हैं। जैसे कारबार और व्यापारमें दिवालियोंकी कुछ अधिक साख कायम हो गई है, वैसे ही विधुरोंको विवाहके लिये कुछ अधिक योग्य समझा जाता है। लड़कीको मृत्युके मुंहमें ढकेलते हुए भी कहा यह जाता है कि उसको बना-बनाया घर मिल जायगा। स्त्री-जातिके इस सर्वनाशकी कोई तालिका तो नहीं मिलती, किन्तु स्वर्गीय सर शङ्करन् नायरने समाज-सुधार-परिषद्के सभापतिकी हैसियतसे जो भाषण दिया था, उसमें स्त्री जातिकी इस दुर्दशाका चित्र खींचते हुए कहा था कि एक ही पीढ़ीमें करीब ३२ लाख स्त्रियां

केवल प्रसवके कारण इसलिये अपने जीवनसे हाथ धो बैठती हैं कि गर्भ धारण करनेकी शक्ति उनमें नहीं रहती। इसीसे भावी सन्ततिका भयानक रुपमें ह्रास और नाश हो रहा है। बालकोंकी मृत्यु-संख्यामें भारत का पहिला स्थान है। 'जीवेम शरदः शतम्' की उपासना करने वालोंकी औसतन आयु केवल तेईस वर्ष रह गई है। दूसरे देश वासियोंकी तुलनामें यह सबसे कम है। आयुके साथ-साथ कद, शारीरिक बल, और बुद्धि, चातुर्य भी घटता जा रहा है। इस सन्तति-ह्रासके साथ साथ कुछ सामाजिक समस्याएं भी ऐसी पैदा हो गई हैं, जिनके कारण समाजका जीवन अत्यन्त दुःखमय बन गया है और सार्वजनिक सदाचार बराबर गिरता जा रहा है। विधुरोंके लगातार विवाहसे अनमेल-विवाह एवं वृद्ध-विवाह आदिको प्रोत्साहन मिला है और कुंवारों तथा विधवाओं की संख्याकी भी निरन्तर वृद्धि हुई है। कुंवारों और विधवाओंकी समस्याको विकट बना कर समाजके सार्वजनिक सदाचारकी रक्षाकी आशा नहीं की जा सकती। यह कैसे सम्भव है कि आग और कपासको पास-पास रखने पर भी कपासमें आग न लगे।

कलकत्ता भारतका सबसे बड़ा नगर है। बृटिश-साम्राज्यमें उसका दूसरा स्थान है। उसकी स्वास्थ्य-सम्बन्धी संख्याएं अत्यन्त भयानक और रोमांचकारी हैं। वहांके हेल्थ अफसर डा० क्रेकने सन् १९२३ की वार्षिक रिपोर्टमें बताया है कि १५ से २० वर्ष तक की आयुकी लड़कियां यक्ष्मा रोगसे लड़कोंकी अपेक्षा पाच गुना अधिक मरती हैं। वे इस भयंकर परिस्थितिको एक ही वाक्यमें इस प्रकार कहते हैं कि "ये लड़कियां परदेकी कैदमें हवा न मिलनेसे मर जाती हैं।' वे लिखते हैं कि—"मुझको विश्वाश हो

गया है कि खूब घने बसे हुए शहरोंकी गलियोंमें परदेकी प्रथा ही इतनी युवतियोंकी मृत्युका असली कारण है। जहां खुले घर हैं और घरोंके साथ खुले अहाते हैं, वहां परदा कुछ अंश तक स्वास्थ्यके लिये घातक नहीं होता। बड़े शहरोंमें चूंकि आस-पासकी गलियोंके कारण एक घर दूसरे घरसे छिपा नहीं रह सकता, इसलिये जब तक हवा और रोशनी भी बन्द न करदी जाय तब तक एक घर दूसरे से ओझल नहीं हो सकता। इसलिये घरका बिलकुल भीतरी वह कमरा जनाना रक्खा जाता है, जिसमें न रोशनी जा सकती है, न हवा और न किसीकी आंखें ही पहुंच पाती हैं।' डा० क्रेककी इस रिपोर्ट पर 'माडर्न रिव्यू' ने लिखा था कि—"डा० क्रेकने कोई नई बात नही लिखी है। आप उन सैकड़ोंमेंसे एक हैं, जो ऐसा ही अरण्यरोदन करते रहते हैं और जिनकी सच्ची बातकी धर्म और परमात्माके पवित्र नामसे अवहेलना की जाती है। यद्यपि भारतमें ऐसे लोग कम मिलेंगे जो किसी भलाई, सचाई या आदर्शके लिये अपने जीवनकी आहुति दे सकें, किन्तु उन लोगोंकी कुछ कमी नही है जो बेहूदा रूढ़ि और व्यर्थके रिवाजोंको बनाये रखनेमें सदा आगे रहते हैं। लोगोंसे कहिये कि आओ, मिलकर भारत भूमिको सुखी और समृद्ध बनावें, शताब्दियोंकी जमी हुई गंदगीको दूर करें, ऐसा यत्न करें जिससे देशमें छोटी आयुके विवाह न हों, कोई मनुष्य अछूत न रहे, परमात्मासे रहित केवल ईंट-पत्थर तथा मिट्टीके मन्दिर न हों, किसीके प्रति अन्याय व अत्याचार न हो और देशमें ये बुराइयां न रहें, जिनसे राम और अशोककी भूमि वारेन हेस्टिंग की भूमि बन गई है। उत्तरमें
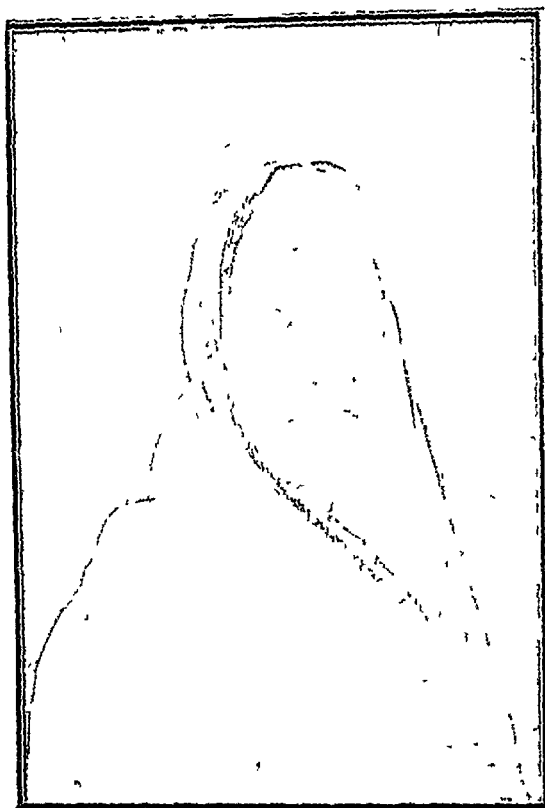
श्रीमती जानकी देवी बजाज

आप स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज की धर्मपत्नी हैं आप ही ने भूमिका लिखकर इस पुस्तक का गौरव बढ़ाया है।

लोग कहने वालेका मज़ाक करने लगेंगे और उसको अकेलाही छोड़ देंगे। हां, यदि पूर्वजोंके नामसे कोई बात कही जाय, तो लोग आखें मूंद तथा दिमागको ताला लगा पीछे हो लेंगे। समयके साथ किये गये इसी असहयोगने और हमेशा पीछेकी ओर देखनेकी इसी प्रवृत्तिने हम भारतियोंको उन्नतिकी दौरमें पछाड़ दिया है। परदा प्रथाका इसी तरह समर्थन किया जाता है। कुछ भी आश्चर्य नहीं कि ऐसे लोग अस्पतालोंके चीरा-फाड़ीके कमरोंकी सफाई भी गायके गोवर और मूत्रसे ही करनेकी व्यवस्था करें। हम पुरानी बातोंको, चाहे कितनी भी घातक और हेय क्यों न हों, मानना केवल इसलिये पसन्द करते हैं कि उनके साथ धर्मका नाम जुड़ा हुआ है और हमको वह पूर्वजनोंसे प्राप्त हुई हैं। यही समय है जब कि हमको सावधान होकर अपनी पुरानी सभ्यताकी विशाल शक्तियोंका सदुपयोग करना चाहिये। यह स्पष्ट है कि धर्ममें कुछ बुराई नहीं है। हम स्वयं ही अपने पतनके कारण हैं, न कि धर्म। आइये, हम अपने धर्मको फिर वैसा ही दृढ़ बनावें कि उसके अनुकूल आचरण किया जाय। यदि धर्मके अनुकूल आचरण नहीं हो सकता और उसके रहते हुए भी शताब्दियोंसे जनतामें गिरावट पैदा हो रही है, तो क्यों न ऐसे धर्मको अथवा कमसे कम उसकी बुराइयोंको बदला जाय ? धर्म और बाप दादाओंके नामसे परदा प्रथाका समर्थन करने वाले क्या ऊपर के शब्दों पर ध्यान देंगे ?

सन् १९२५ की कलकत्ताकी रिपोर्टमें भी ऊपरकी बातोंको दोहराया गया है और बताया गया है कि उस वर्ष वहां ८२ फी सदी स्त्रिया तपेदिककी बीमारीका शिकार हुईं थीं। सन् १९२९ में २८ सितम्बरको "यंगवूमैन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन हाल" में रेड

क्लास सोसाइटीके 'वेल फेयर वर्क' का परिचय देते हुए डा० श्रीमती एडिथ घोषने कलकत्तेके मानिकतल्लाके मकानोंके प्रत्यक्ष अनुभवका वर्णन करते हुए परदेकी बुराइयों पर भी कुछ प्रकाश डाला था। उन्होंने बताया था कि अनेक घर ऐसे बने हुए हैं जिनमें एक-एक कमरेमें बीससे अधिक स्त्रियां रहती हैं। बच्चों और पुरुषोंकी संख्या उनसे अलग है। मिट्टीका फर्श रहता है। सामने छोटेसे अहातेमें गाय बकरी और उनके बच्चे बंधे रहते हैं। मुर्गियां, बत्तखें वगैरह भी वहां ही रखी जाती हैं। घरका कूड़ा-करकट भी उसीमें जमा रहता है बरसातमें ये सब जानवर घरमें ही बांधे जाते हैं और घरके चारों ओर कीचड़का तालाब बन जाता है। मकानोंमें हवा और रोशनीके लिये एक भी खिड़की नहीं रहती।" इसके बाद स्त्री-समाज पर इस प्रकारके रहन-सहनसे होनेवाले दुष्परिणामों पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा था कि 'जिन बस्तियोंमें परदा बहुत कठोरताके साथ किया जाता है, उनमें गर्भावस्थामें हिन्दुओंकी अपेक्षा मुसलमान स्त्रियां बहुत अधिक कष्ट भोगती हैं। उन बस्तियोंके मकानोंमें हवा भली प्रकार नहीं आती मुसलमानोंके घरोंमें तो छोटीसे छोटी खिड़की को भी बड़े गन्दे और फटे टाटोंसे ढक दिया जाता है। सामनेका दरवाजा भी इसी प्रकार बन्द कर दिया जाता है। बिचारी माताको न तो खुली हवा मिलती है, न प्रकाश और न अच्छा भोजन। परिणाम यह होता है कि उसको भयङ्कर बीमारियां आ घेरती हैं। क्षय उसको आम तौर पर हो जाता है। बिना किसी बीमारीके भी कमजोरी सदाके लिये उसको आ दबाती है। एक मुसलमान स्त्री बच्चेके साथ दवाके लिये मेरे पास आई। वह बीमार और कमजोर थी। मुझको उस पर दया

आई। मैंने समझा कि उसको घरसे अस्पताल आने-जानेमें कष्ट होगा। इसलिये मैंने नर्ससे कहा कि उसके बच्चेके लिये दूध और दवा उसके घर ही भेज दिया करो। नर्सने मुझको बताया कि उसके मकानमें एक भी खिड़की नहीं हैं। वहां उसको खुली हवा और रोशनी नहीं मिलती। दूध और दवाके बहाने आने-जाने और यहां घण्टा भर बैठनेमें उसको खुली हवा तो मिलेगी। मैंने देखा कि दो तीन-दिन में ही उसके चेहरे पर रौनक आगई। फिर मुझको एक बार एक स्त्रीको देखनेके लिये उसके घर पर जाना पड़ा। उसको गर्भकी गड़बड़ीकी शिकायत थी। उसके घर पर जाकर देखा कि उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। दुपहरके समय भी तेलका दिया जला कर घरमें प्रकाश किया गया था। उसके बदन पर कपड़ेके चिथड़े लिपटे हुए थे। मैंने मुश्किलसे उसकी कलाई टटोली और उसकी नाड़ी देखकर मैं हैरान रह गई। वहां उसका जीवित रहना कठिन समझ मैं उसको ईडन-अस्पताल ले आई। वहां खुली हवा; खुला प्रकाश और अच्छा भोजन मिलनेसे वह तीन-चार दिनमें अच्छी हो गई। मुझे इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि घरमें हवा रोशनी आदि न मिलनेसे उसको गर्भके गड़बड़ होने की वह शिकायत हुई थी!"

डा० वेण्टलीने भी ऊपरकी बातोंका समर्थन किया है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि शहरोंके बाहर देहातोंमें भी इस घातक प्रथाके कारण यक्ष्मा फैलता जा रहा है। उन्होंने इस भयङ्कर बीमारीके फैलनेके तीन कारण बताये हैं। एक लोक संख्याकी अधिकता, दूसरा दरिद्रता और तीसरा परदा। उनका यह अनुसंधान है कि इस परदा प्रथाके कारण यक्ष्मा विशेष फैलता

है। प्रति हजार में जहां पुरुष २४ मरते हैं, वहां स्त्रियां ३६ कालका ग्रास बनती हैं। 'बंगलार कथा' नामके कलकत्ते के एक पत्रने डा० वेण्टलीकी सम्मति पर लिखा था कि हम नहीं जानते कि और कितने दिनों तक बङ्गालके लोग इस घातक कुप्रथाको अपने यहां शासन करने देंगे। हमारे देशमें सौन्दर्यके लिये नहीं, किन्तु मिथ्याभिमान और झूठी लोकलाजके स्त्रियां दम घुटकर परदेमें भले ही मर जायं पर बाहर नहीं आने पातीं। यदि पुरुषोंकी कामुक दृष्टिसे स्त्रियोंको बचानेके लिये ही परदा आवश्यक समझा जाता है, तो वह दोनोंके लिये ही भयङ्कर अपमानकी बात है। इससे स्पष्ट है कि पुरुष भेड़-बकरीकी भांति स्त्रीको अपनी सम्पत्ति मानता है और चोरोंसे उस सम्पत्तिकी रक्षाके लिये परदेको आवश्यक समझता है। परदेके पक्षमें चाहे कुछ भी क्यों न कहा जाय, पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जीवनका मूल्य आचारसे कुछ कम नहीं है। जिस प्रथाके कारण असमयमें ही सैकड़ों माताएं स्मशान या कब्रमें पहुंचा दी जाती हैं, उसका समर्थन करना और उनकी हत्या करना एक समान है।" देहातोंमें और गरीब जनतामें जितना अधिक परदा बङ्गालमें हैं, उतना किसी प्रान्तके देहात और गरीब जनतामें नहीं है।

इस समयके कलकत्ताके हेल्थ अफसर डा० डी० एन० मजुमदारने भी कलकत्ता शहर और बङ्गालके देहातोंके सम्बन्धमें इसी प्रकारकी सम्मति प्रकट की है। उन्होंने बताया है कि क्षयरोगसे मरने वालोंकी संख्या सारे प्रान्तमें बहुत अधिक है। सिर्फ कलकत्ता शहरमें प्रतिवर्ष ३० हजारको क्षयरोग आ दबाता है। और तीन हजार प्रतिवर्ष जीवनसे हाथ धो बैठते हैं। इस घातक रोगके मुख्य

कारण हैं—परदा, अज्ञानता और लापरवाही। देहातकी गंदी अन्धकार पूर्ण झोपड़ी जितनी खतरनाक है, स्वच्छ दीखनेवाले कलकत्ताके प्रकाशहीन बीचके कमरे भी उतने ही खतरनाक हैं। सब प्रान्तके क्षयरोग पीड़ितोंमें ७५ प्रतिशतको ऐसे ही बन्द कमरों या झोपड़ियोंमें रहनेसे यह रोग आ दबाता है। उनमें सिर्फ पांच प्रतिशत गावोंमें रहते हैं, शेष कलकत्ता सरीखे शहरोंमें। केवल ढाई प्रति सैकड़ाको यह रोग पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिलता है। डा० बराटने लिखा है कि जब हवा तथा धूपके बिना एक छोटा-सा पौधा भी नहीं उग सकता, तब यह समझना कठिन नहीं होना चाहिये कि स्वास्थ्यके लिये धूप तथा हवा कितनी उपयोगी और आवश्यक है। परदा प्रथासे धूप तथा हवा तो मिलती ही नहीं, साथमें वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है, जो बीमारियोंको रोकती है। यक्ष्मा आदि बीमारियां ऐसी अवस्थामें ही शरीरमें आ घुसती हैं। स्त्रियोंको इसीसे राजयक्ष्मा, दमा आदि फेफड़ेकी बीमारियां अधिक होती हैं। परदेके ही कारण लोग स्त्रियोंको बाहर टहलनेके लिये नहीं भेजते! परदोंसे घिरी हुई गाड़ियोंमें स्त्रियोंको बाहर भेजना व्यर्थ है। टहलनेका प्रयोजन उससे कदापि पूरा नहीं होता। अपने स्वास्थ्यको नष्ट करके इस प्रकार हम अपनी सन्तान पर भी बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हैं।

अनुभवी डाक्टरोंकी इन प्रामाणिक सम्मतियोंके बाद परदेके दुष्परिणामोंके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी जरुरत नहीं रहती। पर, प्रश्न यह है कि क्या दुराग्रही और हठी मनुष्यके हृदय पर इन सम्मतियोंका प्रभाव पड़ सकेगा? समाजके इस शारीरिक ह्रास और नैतिक पतनके साथ-साथ राजनीतिक प्रगतिमें भी परदा-

घातक सिद्ध हुआ है। स्त्रियां सार्वजनिक जीवनमें पुरुषकी सहायक न होकर रुकावट बन जाती हैं। स्वर्गीय देश-प्रिय यतीन्द्र-मोहन सेन गुप्तने १९२८ की कलकत्ता कांग्रेसके स्वागताध्यक्षके भाषणमें समाज-सुधार-सम्बन्धी विषयों का बहुत सुन्दर विवेचन किया था। आपने कहा था कि—"भूतकाल पर अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिकता, जात-पांत, परदा, बहुविवाह, बालविवाह और ऐसी ही अन्य कुरीतियां, जिनसे हमारा सामाजिक-जीवन विश्रृङ्खल हो गया है, हमारी असफलताका कारण हैं। हमारा सार्वजनिक-जीवन टुकड़ोंमें बंटा हुआ है। हमारी राष्ट्रीयता सिवा साम्प्रदायिकताके और कुछ नहीं है। हमारा आधा राष्ट्र परदेकी कैदमें अपनी जीवन-शक्तिका नाश कर रहा है। परदा ही नहीं, किन्तु स्त्रियोंकी दीनता और पराधीनताके सब बन्धन एक साथ काटने होंगे। आधी जनसंख्याको निकम्मा बनाकर बाकीका उद्धार आप तीनकालमें भी नहीं कर सकते। परदेके कारण आधी जनसंख्या अथवा देशकी आधी जीवनशक्तिका विनाश कर बाल्यावस्थामें ही मातृत्वके बोझसे दबी शक्तिका सर्वनाश कर उसके दुष्परिणामसे आप बच नहीं सकते। उस सब भेद-भावको एक दम मिटा देना होगा, जिससे राष्ट्रका सामाजिक जीवन हजारों टुकड़ोंमें बंटा पड़ा है। जात-पांतका तो अविलम्ब ही नाश होना चाहिये। पहिले समयके वे सब आर्थिक लाभ नष्ट हो चुके हैं, जिनको सामने रखकर जात-पांतकी रचना की गई थी। इस समय उसका आधार श्रम-विभाग नहीं है।" कांग्रेसके उसी अधिवेशनमें राष्ट्रपति पण्डित मोतीलालजी नेहरूने भी कहा था

कि—"हमारा सबसे पहिला और स्पष्ट कर्तव्य यह है कि हम अपने घरको व्यवस्थित करें। अस्पृश्य और दलित ठहराये गये अपने भाइयोंको गले लगावें। राष्ट्रीय प्रगति और भिन्न-भिन्न समाजोंके संगठित होनेमें बाधक होने वाली सब सामाजिक बुराइयोंके प्रतिकूल घोर आन्दोलन करें। विशेष तौरपर स्त्रियोंकी उन्नतिमें बाधक होनेवाली परदा सरी॰.ी कुप्रथाओंके विरुद्ध हमको युद्धकी घोषणा करनी चाहिये। राष्ट्रीय प्रगतिमें बाधक होनेवाली सामाजिक बुराइयोंके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन किसी भी कार्य-क्रमकी सफलताके लिये अत्यन्त आवश्यक है। पर, हमने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। स्त्रियोंकी प्रगतिमें बाधा पहुंचानेवाली परदा सरीखी बुराइयाँ हमारे लिये भयंकर अभि-शाप हैं। इनका यथाशीघ्र नाश होना चाहिये। यदि स्त्री मनुष्यका श्रेष्ठ अर्द्धाङ्ग है, तो क्यों न सार्वजनिक कार्यका आधा हिस्सा वे पूरा करें और इसलिये उनको परदेकी कैदसे मुक्तकर क्यों न घरेलू जीवनके सुधारनेका अवसर दिया जाय? इस कार्यक्रमको पूरा करनेके लिये पैसेकी जरूरत नहीं है। उसे तो हममेंसे प्रत्येक अपने घरमें बिना किसी दूसरेकी सहायता और खर्चके पूरा कर सकता है? स्त्रीको पराधीनताके विधानोंमें दबाकर पुरुषने अपनी ही उन्नतिपर कुठाराघात किया है, और सम्पूर्ण जातिको स्वतन्त्रताके लक्ष्यसे बहुत परे धकेल दिया है। पराधीनताकी गोदमें पलनेवाले बच्चें स्वतन्त्रताका संग्राम निर्भी-कतासे नहीं लड़ सकते। इससे स्त्री और पुरुष दोनों ही में भय, कायरता, लज्जा और संकोच आदि सदा समाया रहता है। पुरुषोंकी दीनता, दुर्बलता और दासतासे लज्जित न होनेकी

प्रवृत्ति घोर पराधीनतामें दिन विताने वाली माताओंके संस्कारों-का अवश्यम्भावी परिणाम है।"

स्त्रियोंकी आंखोंपर ही नहीं, अपितु अपनी बुद्धियोंपर भी परदा डाल रखने वालोंके लिये इन सब उक्तियों और युक्तियोंका कुछ भी अर्थ नहीं है। हिन्दू समाजकी अवस्था तो उस आदमीकी सी हो रही है, जो सब सुनता-समझता हुआ भी अपने व्यवहारमें तनिक सा हेरफेर नहीं करना चाहता। रूढ़ि-परम्परा और मर्यादाके नामपर वह लकीरका ऐसा फकीर वना हुआ है कि सामाजिक बुराइयोंसे होनेवाले क्रमिक ह्रासके बाद उसके बदनपर केवल लंगोटी रह गई है! इसपर भी यदि वह अपने हठ या दुराग्रहको नहीं छोड़ेगा, तो सर्वनाशकी गहरी खाई उसके लिए तैयार है। यही समय है, जब कि उसको सावधान हो जाना चाहिये।

परदा-प्रथाके इन दुष्परिणामोंके इतने विस्तृत विवेचनके बाद कुछ और लिखनेकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। स्त्रीके शारीरिक ह्रासका सन्तानकी शारीरिक अवस्था पर ही नहीं, वरन् जीवनके हर एक पहलू पर उसका असर पड़ता है। माताको संसारके सब व्यवहारसे मूर्ख और निपट गंवार रखकर सन्तानको चतुर एवं समझदार नहीं बनाया जा सकता। निरक्षर, अनपढ़ तथा अशिक्षित माताकी सन्तान सुरक्षित नहीं हो सकती। परदा-प्रथाके दुष्परिणामोंको भोगने वाले माताकी सन्तानको उनके प्रभावसे वचाना असम्भव है। कैसा मूर्ख वह मनुष्य है, जो ऊसर भूमिमें गुलाबका पौदा लगा कर और उसको हवा, रोशनी तथा पानीसे भी अलग रख कर उसमें सुगन्धित फलोंके पैदा होने

की आशा रखता है ? सन्तानके सम्बन्धमें मनुष्यकी आकांक्षाओं का यदि मीनार बनाया जा सके, तो उसकी ऊंचाई हिमालयकी गौरीशङ्करकी चोटीसे अधिक ऊंची होगी। इतने ऊंचे मीनारको वह खड़ा करना चाहता है रेतके उस टीले पर, जिस पर पांच ईंटें भी नीचे ऊपर सीधी खड़ी नहीं की जा सकतीं। जिस इच्छा, आशा या आकांक्षाका प्रारम्भ इतना कमजोर है, उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है ? अच्छा हो यदि मनुष्य ऊंचे शानदार हवाई महल न खड़े करके फूसकी छोटी-सी ऐसी सुन्दर झोंपड़ी ही बनावें, जिनको देखने वालेका मन सहसा उसकी ओर आकर्षित हो जाय। जैसे अनधिकार चेष्टा कभी सफल नहीं होती, वैसे ही अनधिकार इच्छा तथा आकांक्षाकी भी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। स्त्रीको अपनी इच्छा, आशा तथा आकांक्षामें बराबर का हिस्सेदार बनाये बिना पुरुषको कभी भी उसकी पूर्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिये ! स्त्रीको सब अधिकारोंसे वंचित रख कर पुरुष अपनेको सब अधिकारोंसे सम्पन्न बनाना चाहता है। सदियोंसे इस यत्नमें निरन्तर असफल होनेके बाद भी यदि वह जान बूझ कर स्त्रीके सम्बन्धमें सजग या सचेत नहीं होना चाहता, तो वह सदा ही असफलताके अन्धकारमें ठोकरें खाता रहेगा। पीछे आने वाले उसको गिराकर उसकी पीठ पर पैर रखते हुए आगे बढ़ते जायेंगे। प्रकृतिके स्वभाविक प्रगतिके इस नियमको कोई टाल नही सकता। एकका विनाश ही दूसरेका जीवन है। जहां परदा प्रथाके समर्थक देशोंका अधःपतन हुआ और हो रहा है, वहां उससे मुक्ति पाने वालोंका निरन्तर अभ्युदय हुआ और होता रहेगा। बलिहारी है उस हिन्दू समाजकी, जो परदा-प्रथाको बाप-दादाओंकी सम्पत्तिकी तरह छातीसे चिपटाये रखना चाहता है !

——::०::——

परदेका प्रारम्भ-मनुष्यका अन्याय

———::※::———

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह अपनी कमजोरीका कारण अपनेमें न ढूंढ़ कर उसका सब दोष पास-पड़ोसवाले पर मढ़ देता है। हिन्दू इसी प्रकार अपनी सब सामाजिक बुराइयोंका दोष मुसलमानोंके माथे मढ़ कर अपनेको उससे बरी कर लेते हैं। अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे हिन्दू भी बिना विचारे कह बैठते हैं कि परदा, बाल विवाह, सती-प्रथा, जात-पांत, छूत-छात और स्त्री शिक्षाका अभाव आदि सब बातोंका प्रारम्भ मुसलमानोंके कारण हुआ है। परदेकी कु-प्रथाके प्रारम्भ होनेका सब दोष तो एक मात्र मुसलमानों पर मढ़ा जाता है। कहा जाता है कि मुसलमानी भय और मुसलमानी सभ्यता, दोनोंके प्रभावका परिणाम परदेका रिवाज है। जहां जहां मुसलमानोंका शासन रहा और जो जातियां उनके अधिकार में आईं, उनमें ही परदेकी कुप्रथा पाई जाती है। परदा-प्रथाके प्रारम्भ और उनके अस्तित्वके सम्बन्धमें अधिक विचार करने पर हिन्दुओंका यह कथन सर्वांशमें ठीक प्रतीत नहीं होता। हिन्दू समाजमें परदेका अस्तित्व मुसलमानोंके समयसे बहुत पहलेका है। उनसे उसका प्रारम्भ नहीं हुआ है। परदेका प्रारम्भ हुआ है पुरुषके अन्यायसे, स्वार्थसे और स्त्री पर शासन करनेकी कुत्सित भावनासे। पुरुषने स्त्रीको जब अपनेसे हीन और भेड़-बकरी, गाय-भैंस तथा धन-सम्पत्तिकी तरह सदा छिपा रखने योग्य समझना शुरू किया, तब उसको घरकी चहारदीवारीमें बन्द किया

गया, घरोंके दरवाजों पर परदे लगाये गये और स्त्रीके मुंह तकको ढांप रखनेकी व्यवस्था की गई। उसकी स्वतन्त्रता छिनती चली गई और उसकी पराधीनताके नये-नये बन्धनोंका आविष्कार होता गया। परदा स्त्रीको सदा पराधीन बनाये रखनेके लिये किये गये ऐसे आविष्कारोंमेंसे अन्यतम है। स्त्रीके प्रति पुरुषकी सन्देह पूर्ण भ्रान्त धारणाने उसको दिन-पर-दिन अधिक कठोर बना दिया है। एक वाक्यमें यह कहा जा सकता है कि स्त्री-पुरुषके स्वाभाविक सम्बन्धको भुला देनेसे स्त्रीके प्रति पुरुषकी भावना इतनी कुत्सित तथा दूषित बन गई कि उससे ही परदेकी कुप्रथाका जन्म हुआ। पुरुषकी इस कुत्सित भावनासे पैदा हुई निरंकुशताका चित्र अङ्कित करते हुए एक सज्जन बिलकुल ठीक लिखते हैं कि—"पुरुषोंने स्त्रियों पर जो शासन कायम किया है, वह किसी आपत्कालमें स्त्रियोंकी इच्छाके विरुद्ध ही नहीं किया गया है, बल्कि वह शताब्दियोंकी क्रमानुगति व्यवस्थाका परिणाम है, जिसे धीरे-धीरे प्रत्येक युगमें सभी देशोंमें स्थापित और दृढ़ किया गया है। पुरुषके स्वेच्छाचार-पूर्ण शासनमें स्त्रीको दासी, शूद्रा और पतिता बना दिया गया है। स्त्रियोंके उदार, दयालु स्वभावसे पुरुषोंने अनुचित लाभ उठाया है। पुरुषोंके प्रति स्त्रियोंकी स्वाभाविक श्रद्धा-भक्ति और मर्यादामें रहनेकी जन्मसिद्ध प्रवृत्तिका उन्होंने दुरुपयोग किया है। उनकी धार्मिक भावनाको उनके विरुद्ध काममे लाया गया है। धर्म और शासन दोनोंने स्त्रीको उस विषमता-पूर्ण स्थिति और अन्यायपूर्ण नियमोंमें बुरी तरह जकड़ दिया है, जिनका परिणाम यह हुआ कि वह घरकी चहार-दीवारीमें बन्द रहने वाली अविश्वासनीय गृहिणी, सदा पराधीनताका दुःख भोगने वाली दासी, घर-परिवार

समाजसे त्यागी हुई विधवा, अपने पेटके लिये अपने सर्वस्व सतीत्वको बेचने वाली समाजसे सताई हुई वेश्या, धर्माचार्योंकी पोपलीलाका शिकार हो धर्ममन्दिरोंमें नाचने वाली देवदासी और व्यसनी शासकोंके भोग-विलास तथा सम्पन्न पुरुषोंके आमोद-प्रमोदकी वस्तु बन राजप्रासादों तथा महलोंमें नाच-गान करने वाली बारांगना ही रह गई है।" सभी तरह और सभी जगह उसको पुरुषने भोगकी वस्तु बना लिया है। सभी देशों और सभी जातियों, सभी सम्प्रदायों और सभी समाजोंमें उसका दर्जा पुरुषसे हीन रखा गया है। उसमें "सोलह गुना काम' बता कर उसको 'स्वभावतः दुराचारिणी' कह कर, उसकी आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक निर्बलता, का अतिरंजित चित्र खींच कर और उसमें 'एक हजार एक सौ दोष' दिखाकर उसको सदा अपने अधिकारमें रखनेका जाल पुरुषने उसके चारों ओर फैलाया है। सको बदनाम करनेमें कोई बात उठा नहीं रखी गई। आश्चर्य तो यह है कि स्त्रीके प्रति पुरुषको यह कुत्सित भावना और उसके द्वारा पैदा हुई निरंकुशता प्रायः सभी देशों और सभी सम्प्रदायोंमें एक-सी पाई जाती है। ऐसा मालूम होता है कि स्त्रियोंके लिये सभी शास्त्रकारोंने मिल कर कोई षड्यन्त्र रचा है और एकने दूसरोंकी नकल की है। प्रायः सभी शास्त्रकारोंने पुरुषकी आत्मिक उन्नतिके लिये स्त्रीको बाधक बताया है, उसका अनादर किया है, पुरुषको पुण्य-पथसे हटा कर पापके कीचमें फँसाने वाली कहा है और शैतानका जाल माना है। राजा इन्द्रको जब कभी किसीकी तपस्यासे अपने राज्यके छिननेका भय होता था, तब वह अप्सराओंको ही उनकी तपस्या-भंग करनेके लिये भेजा करता था।

इन्द्रकी सेना जैसे अप्सराओंकी ही थी और इस पापपूर्ण कार्यके लिये ही वह रखी जाती थी। भारतकी ऐसी पौराणिक गाथाओंकी तरह बाइबिलमें भी संसारका सबसे पहिला पाप स्त्रीसे ही करवाया गया है। आदमके दिलमें निषिद्ध पेड़का सेव खानेकी लालसा पैदा करने का दुष्कर्म ईव से कराया गया है। इसी घटनाके आधार पर ईसाइयोंने स्त्रीको पापिनी और दुराचारिणी मान लिया। भारतके स्मृतिकार स्त्रियोंकी स्वाधीनताके सबसे अधिक विरोधी जान पड़ते हैं। मनु महाराजने उनकी जन्म भरकी स्वतन्त्रताका अपहरण यह कह कर किया है :—

"पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थावरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति ।।"

"बाल्यावस्थामे पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र स्त्रीका रक्षक होता है, इसलिये वह स्वतन्त्रताके योग्य नहीं है।" इसी प्रकार मनुने फिर कहा—'स्त्रियां स्वभावसे ही चंचल चित्त, व्यभिचारिणी और स्नेह रहित होनेसे यत्नपूर्वक बचा कर रखने पर भी पतिसे बिगाड़ कर बैठती हैं। पतियोंको अपनी स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र न रखना चाहिये। विषयमें आसक्त रहनेवाली स्त्रीको वे सदा ही अपने वशमें रखें। भगवान् दत्तात्रेयने मनुके भावको स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। वे कहते हैं कि 'स्त्री मनसे, वचनसे और कर्मसे छोड़ने योग्य है। गुड़, चून और माध्वीसे बनी हुई तीन प्रकारकी शराब प्रसिद्ध है। स्त्री चौथे प्रकारकी शराब है, जिसने सब संसारको मोहित कर रखा है। कुटिलता और दम्भसे युक्त, सत्य और पवित्रतासे रहित सब प्राणियोंकी बन्धन-रूप यह स्त्री किसने बना डाली। मैं नहीं जानता कि उसने इस स्त्रीको रचना

क्यों की, जोकि विश्वासघात करनेवाली स्वर्ग और मोक्षके द्वारकी अर्गल है।'

स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें सभी धर्माचार्योंने ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं। चीन, जापान, ईरान, रोम, यूनान आदि देशोंके धर्माचार्योंने स्त्रियोंके सम्बन्धमें जो आदेश दिये हैं, उनमें अनेक शब्द, एक दूसरेसे मिलते हैं। ईसाने कहा है—

"Obey Thy husbands O' wives!
Obey Thy masters O' slaves!"

"ऐ पत्नियों! अपने पतियोंका आदेश मानो। ऐ गुलामों! अपने मालिकोंका आदेश मानो।" दूसरी जगह ईसाने कहा है—"ऐ पत्नियों। अपनेको अपने पतियोंको इसी तरह अर्पण करो जिस तरह तुम अपनेको प्रभुके अर्पण करती हो, क्योंकि पति पत्नीका उसी प्रकार मालिक है, मसीह जिस प्रकार धर्मका मालिक है। पति उसका रक्षक है।' हज़रत मुहम्मदने फरमाया है कि "मर्द हाकिम है औरतोंका। स्त्री कमजोरीकी जीवित प्रतिमा है। जब वह बाहर जाती है, तब शैतान ऊंचा सिर किये उसको देखता रहता है। यदि मनुष्यका मनुष्यके सामने दण्डवत् करना उचित होता, तो मैं स्त्रियोंको आदेश देता कि वे अपने पतियोंके सामने दण्डवत् करें!" चीनके सुप्रसिद्ध मुनि कनफ्यूक्सनने कहा है कि 'स्त्री उच्छृ खलता, असन्तोष, अपवाद, ईर्ष्या और मूर्खताकी जीवित प्रतिमा है। स्त्रीको इसके लिये दुःख और पश्चात्ताप होना चाहिये, जापानी शास्त्राकार काईवाराका आदेश है कि "युवावस्थामें स्त्रीको अपने पतिके रिस्तेदारों, मित्रों और नौकरोंसे जरा भी घनिष्ठता नहीं रखनी चाहिये। उसे यह सदा याद रखना चाहिये कि पुरुष पुरुष

है और स्त्री-स्त्री। उसे किसी युवकसे किसी भी कारण पत्र व्यवहार नहीं करना चाहिये। मन्दिरों और पूजाके स्थानमें न जाना चाहिए जब तक कि उसकी अवस्था ४० वर्षसे अधिक न हो जाय।' दूसरे शास्त्रकारका आदेश है कि "युवाकाल शुरू होते ही लड़कीको पुरुषोंसे अलग कर देना चाहिये।' जापानमें स्त्री-पुरुषों का इकठ्ठा एक स्थान पर बैठना वर्जित था। बाहरी पुरुषोंसे बात करना सर्वथा निषिद्ध था। गत शताब्दी तक यह रिवाज था कि जब बादशाह घूमनेको बाहर निकलता था, तब स्त्रियोंको घरोंमें बन्द हो जाना पड़ता था। संसारको अपने दिव्य आदेशसे दीक्षित करनेवाले भगवान् बुद्धने भी स्त्रियोंसे पुरुषको सावधान रहनेका आदेश देते हुए कहा है कि—"असावधान पुरुषोंके सामने अज्ञानता विषयवासनाके जो जाल फेंकती है, उनमें सबसे अधिक कपटपूर्ण,- अधिक भयानक और सबसे अधिक लुभावना जाल स्त्री है।"

लैकीने यूरोपियन लोगोंके नैतिक जीवनका इतिहास लिखते हुए बताया है कि—"करीब दो हजार वर्ष पहिले यूनानमें परदा प्रथा पाई जाती थी। यूनानी अपनी स्त्रियोंको अन्तःपुरके सुदूर एकान्त हिस्सेमें रखते थे। वे पुरुषोंके साथ दावतों और मेलोंमें नहीं जा सकती थीं और न अन्य पुरुषोंसे मिल सकती थीं।' मंचूरिया, मंगोलिया और चीनमें भी परदा आजसे हजारों वर्ष पहिले मौजूद था। घरोंसे बाहर जब स्त्रियां गाड़ियों-पर निकलती थीं, तब उनको परदोंसे ढांप दिया जाता था। कोरियामें परदा बहुत सरल था। स्त्रियां घरोंसे बाहर नहीं निकल सकती थीं। रात्रिमें घण्टा बजता था, तब सब पुरुष घरोंमें

चले जाते थे और तब स्त्रियां बाहर आ सकती थीं। दिनमें बाहर आनेपर मुंहके सामने वे एक लम्बा कपड़ा लटका लेती थीं। विवाह-संस्कारके समय भी वधूका मुंह आंचलसे ढक दिया जाता था। रजस्वला होनेसे विवाहके समय तकके लिये परदेका कठोर विधान कई देशोंमें पाया जाता है। न्यूगाइनामें कुछ जातियोंके लोग उनको इन दिनोंमें पिंजरोंमें बन्द करके रखा करते थे। क्रीमिया, जापान, काकेशस और उत्तर अमेरिका आदिमें भी रजस्वला कालमें उनको एकान्त अन्तःपुरमें रखा जाता था। निस्सन्देह इस व्यवस्थाका परदासे कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कुछ विचारकोंका मत है कि परदेकी वर्तमान प्रथा इस व्यवस्थाका ही विकृत रूप है। पर, यह व्यवस्था तो भारतके उन दक्षिणीय प्रदेशोंमें इस समय भी कठोरतमरूपमें पाई जाती है, जिनमें वर्तमान परदा नहीं है। ऊपरके उद्धरण यह स्पष्ट करनेके लिये दिये हैं कि सभी धर्माचार्यों तथा शास्त्रकारोंने स्त्रीको पुरुषके अधीन रहनेका आदेश दिया है और सभी देशोंमें कभी न कभी उस तरहकी व्यवस्था मौजूद थी। मध्यकालीन यूरोपमें ऐसा समय भी था, जब स्त्रीमें पुरुषके समान जीव नही माना जाता था और चेतना रहित पदार्थोंकी तरह उसके साथ वर्ताव किया जाता था। मानवीय उदात्त-तत्वोंसे स्त्री रहित समझी जाती थी। उसको 'डायन' कहा जाता था। इंगलैण्डमें पिछली शताब्दीके अन्त तक पार्लमेण्टमें दर्शक स्त्रियोंको परदेके पीछे ऐसी जगहपर बिठाया जाता था, जहांसे कोई पुरुष उनको देख नहीं सकता था। भारतकी मध्य-कालीन सती प्रथा यद्यपि स्त्रियोंमें चेतना और जीव न माननेका
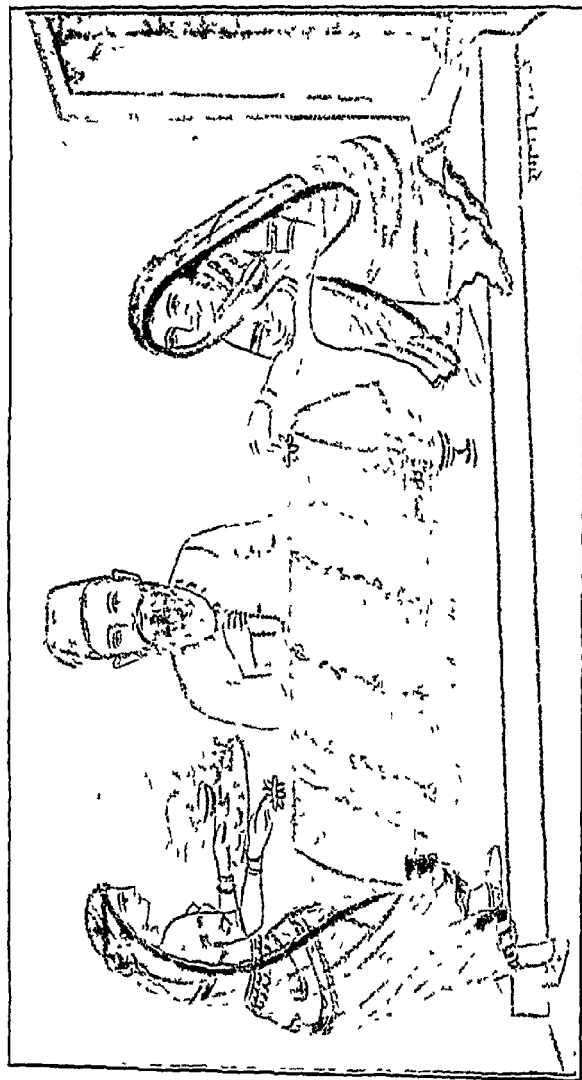
पर्दानशीन स्त्रियां कड़े परदेमें रहनेके कारण जिनके हाथ पैर भी कोई नहीं देख सकता, वही कब्र और पीरकी पूजा करती और शाहजीके सामने बेशर्मीसे खड़ी होनेमें जरा भी नहीं लजातीं ।

परिणाम तो न थी, किन्तु वह जिस अन्धभावनाका परिणाम थी, वह यूरोपकी इस भावनासे कुछ कम कुत्सित और भयानक नहीं थी। उस दृश्यकी कल्पना ही कितनी भयानक है, जिसमें स्त्री को धर्मके नामपर जबरन् धधकती हुई चिताकी लपटोंमें झोंक दिया जाता और धर्मके संरक्षक पुरुष उस चिताके चारों ओर लम्बे-लम्बे डंडे लिये इसलिये खड़े रहते थे कि कहीं स्त्री चितासे निकल कर भाग न जाय ! यह नृशंस सती-प्रथा स्त्रीके प्रति पुरुषके अत्याचारकी चरमसीमा थी। चीनमें जन्मके साथ ही स्त्रीके पैरोंको लोहेके जूतोंमें जकड़ दिया जाता था। इस प्रकारके पंगुपनको उनके सौन्दर्यका चिन्ह बना दिया गया। इसी प्रकार तो पुरुषोंने अपने अत्याचारको छिपाया है।

शास्त्रकारोंकी तरह कवियों और कलाकारोंने भी स्त्री जातिके प्रति कुछ कम अन्याय नहीं किया। उन्होंने भी धर्माचार्योंके ही सुरमें सुर मिलाया है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने साफ कहा है—"ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़नके अधिकारी।' 'अवगुण मूल शूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।" "जिमि स्वतन्त्र ह्वै बिगड़हिं नारी।' पति चाहे कोढ़ी हो, अन्धा हो, लंगड़ा हो, लूला हो और नपुंसक ही क्यों न हो, परन्तु तुलसीदासजीके आदेशानुसार पत्नीको सारा जीवन उसीके साथ बिताना चाहिये। ऐसे पतिका भी सब अत्याचार उसको चुप-चाप सहन करना चाहिये। उसके सामने तो यह भय उपस्थित कर दिया गया है कि "ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाप यमपुर दुःख नाना।" पश्चिमके कवि सम्राट शेक्सपीयरने चरित्रहीनताका नाम ही स्त्री रख दिया है—"Frailty, Thy name is woman" सुप्रसिद्ध

जर्मन दार्शनिक शौपान हायर का कहना है कि 'असत्यता, चरित्र-हीनता, कपट, अनैतिकता, मूर्खता आदि स्त्रियोंके विशेष गुण हैं। कोई ऐसी बुराई नहीं जो स्त्रियोंमें नहीं पाई जाती।' इसी तरहके और उद्धरण देकर इस प्रकरणको लम्बा करनेकी कोई जरूरत नहीं। स्त्रियोंको जिस हीन दृष्टिसे प्रायः सभी देशोंमें देखा गया है, उसको प्रकट करनेके लिये इतने उद्धरण पर्याप्त होने चाहियें। इस प्रकार शास्त्रकारों, स्मृतिकारों और कवियोंने पुरुषकी इस कुभावनाको दृढ़ किया है कि 'तबलेको जैसा ठीक करे कूट पीटके, औरत भी सुधारिये चोटी घसीटके।'—और उन सभी की दीक्षा-शिक्षाने मानव-स्वभाव तथा सामाजिक बातावरणको स्त्रियोंके प्रति कठोरसे कठोरतम बनाया है। उनके प्रति मनुष्यके स्वेच्छाचार और नृंशसताको उन्होंने आश्रय दिया है। स्वतन्त्रताके सन्देश-वाहक जान स्टुअर्ट मिलने बिलकुल ठीक लिखा है कि—"The rule of women by men is founded on brute force and on unthinking sentiments."—'स्त्रियोंपर पुरुषोंका शासन पाशविक बल और विवेकशून्य भावनाओंपर आश्रित है।" संसारके शास्त्रकारों, स्मृतिकारों और कवियोंने पुरुषको इस पाशविकता और अविवेकको उत्तेजना ही दी है।

हिन्दू समाजमें पुरुषकी इस क्रूरता तथा अविवेकका नंगा नाच हो रहा है। और बेचारी स्त्री बुरी तरह उसका शिकार बनी हुई है। परदा पुरुषकी क्रूरता तथा अविवेककी निशानी है और स्त्रीकी दीनता-हीनता तथा पराधीनताका चिन्ह है। भारतमें मुसलमानी सभ्यताके आनेसे पहिले परदा विद्यमान् था। पुरुषमें स्वार्थ अन्याय संकीर्णता, स्वेच्छाचार, नृशंसता और स्त्री पर शासन

करने आदि की दुर्भावनाओंका प्रादुर्भाव मुसलमानोंके इस देशमें आनेसे पहिले हो चुका था। हिन्दुओंके प्राचीन ग्रन्थोंमें परदा-प्रथाका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बाल्मीकि-रामायणमें सीताके वनवास जानेके प्रकरणमें लिखा है :—

'या न शक्या पुरा द्रष्टुं भुतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्ग गता जनाः॥'

अर्थात्—जिस सीताको आकाशमें उड़नेवाले पक्षी तक पहिले कभी न देख सके थे, उसको अब रास्तोंपर चलनेवाले पुरुष देख रहे हैं। लङ्का-विजयके बाद विभीषण सीताको बन्द पालकीमें बिठाकर रामके पास लाया। उस समय रामने आदेश दिया कि सीताको बाहर निकालकर सब लोगोंको उन्हें देखने दिया जाय। रामने वहां यह भी बताया कि किन अवसरोंपर स्त्रियोंको परदा न करनेसे दोष नहीं लगता? वे अवसर ये हैं :—

"व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु न युद्धेषु न स्वयम्वरे।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः॥"

ऊपरके दोनों श्लोकोंसे यह स्पष्ट है कि स्त्रीपर पर पुरुषकी दृष्टि पड़ना दोष माना जाता था और उससे उसको बचाकर रखा जाता था। अन्तःपुरमें रहनेवाली रावणकी रानियां उसकी मृत्युके बाद विलाप करती हुई रणक्षेत्रमें आ जाती हैं। बड़ी रानी मन्दोदरी वहां विलाप करती हुई कहती हैः—

"दृष्ट्वा खल्पसि न क्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम्।
निर्गता नगरद्वारा त्पदभ्यादेव गतां प्रभो॥"

अर्थात्—"हे स्वामी! मैं अब घूंघटसे रहित हो लज्जा, त्यागकर शहरके फाटकके बाहर पैदल ही चली आई हूं। यह

देखकर भी आप मुझपर क्रोधित क्यों नहीं होते?" फिर वह कहती है:—

"पश्येष्टदारदारांस्ते भ्रष्ट लज्जावगुण्ठितान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ॥'

"मैं अकेली ही नहीं आई हूं, तुम्हारी सभी प्रिय रानियां लज्जा त्याग बिना घूंघटके अन्त.पुरसे बाहर चली आई हैं। इसपर भी तुमको क्रोध नहीं आता है।" इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि रामायणके समयमें सीता और मन्दोदरी दोनोंके लिये पुरुषोंकी दृष्टिसे परे रहनेका एक सरीखा विधान था। उस समयके आर्यों और अनार्योंमें परदेकी प्रथा एक सरीखी प्रचलित थी।

महाभारतमें युद्धके बादका वर्णन करते हुए लिखा गया है:—

"अदृष्ट पूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि।
पृथक् जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः॥

"जिन स्त्रियोंको विमानोंमें विचरने वाले देवताओंने भी कभी न देखा था, अब पतियोंके मारे जानेसे उनको सब कोई देख रहे हैं।"

राजा नल जब सोती हुई अपनी स्त्रीको जङ्गलमें छोड़कर जाने लगे, तब उन्होंने कहा—'मेरी जिस पत्नीको पहिले न कभी सूरज देख पाया और न हवा ही स्पर्श कर सकी, अब उनकी क्या दुर्दशा होगी?' कविकुल गुरु कालिदासने शाकुन्तलमें शकुन्तलाके दुष्यन्तके सामने आनेका वर्णन करते हुए लिखा है कि उस समय दुष्यन्तने पूछा कि "कश्चिदिय मवगुण्ठनवती।"—"यह घूंघटवाली स्त्री कौन है? परिचय देनेपर भी जब दुष्यन्त उसको न पहिचान सके, तब गौतमीने कहा:—

"जाते मुहुर्तं मा लज्जस्व अयनेऽभिताततते।
अवगुण्ठनं ततस्त्वां भर्ता अभिज्ञास्यति॥"

"हे शकुन्तला, क्षण भरके लिये तू लज्जा त्याग दे, मैं तेरा घूंघट हटा दूं, जिससे तेरा पति तुझे पहिचान ले।"

ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि मुंह ढांपने, घूंघट काढ़ने या परदा करनेका रिवाज भारतमें बहुत प्राचीन है। इसमें भी सन्देह नहीं कि उस समय यह रिवाज इतना कठोर न था, जितना कि इस समय दीख पड़ता है। उस समयके रिवाजसे इस समयकी कट्टरता तथा कठोरता और पाप तथा अन्यायका समर्थन नहीं किया जा सकता। भारतके प्राचीन वैदिक साहित्यके प्रामाणिक पण्डित और चारों वेदोंके भाष्यकार श्रीयुत पण्डित जयदेवजी शर्मा विद्यालङ्कारने इस विषयका अनुसंधान और अनुशीलन करते हुए लिखा है कि "बिना विचारे हुए ही हम यह मान लेते हैं कि परदेका रिवाज भारतमें मुसलमानोंसे शुरू हुआ है। बालविवाहकी जाति-विनाशक कुप्रथाका श्रीगणेश भी मुसलमानोंके हाथोंसे लड़कियोंको बचानेके लिये ही किया गया, कहा जाता है। मारवाड़ी घरोंमें मदारों और पीरोंकी पूजा भी शायद देवी-देवताओंकी रक्षाके लिये ही शुरू की गई है। इन विचारशून्य बातोंको हम मान लेते हैं, पर यह कोई मानना नहीं चाहता कि हमारे अपने दोषोंसे, अज्ञानतासे, मूर्खतासे तथा अन्यायसे इन कुप्रथाओंका जन्म हुआ है और पाखण्डी, धर्मध्वजी, देशद्रोही तथा जाति नाशक प्रपंचियोंने अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये हमारे गले उनको मढ़ दिया है। ऐसे लोगोंकी भी कमी नहीं है, जो न कुरीतियोंको अनादिकालीन मानते हैं।

उनकी दृष्टिमें धर्म और मर्यादाके लिये उन सबका बना रहना आवश्यक है। परदा प्रथाके बारेमें दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। परदा न तो अनादिकालीन है और न मुसलमानोंके समय ही से शुरू हुआ है। वह पौराणिक कालके पाखण्डी लोगोंका फैलाया हुआ है।" वैदिक कालकी स्त्रियोंकी उन्नत अवस्थाका वर्णन करनेके बाद आप लिखते हैं कि पौराणिक कालके पूर्व भागमें परदेका रिवाज तो नहीं था, किन्तु उस समयके संस्कृत नाटकोंमें स्त्री पात्रोंके मुंहसे संस्कृतमें बात न करवाकर प्राकृतमें कराई गई है। इससे यह प्रकट होता है कि उस समय स्त्रियोंको कुछ हीन दृष्टिसे देखा जाने लग गया था। यद्यपि कालीदासने शकुन्तलाके घूंघटका उल्लेख किया है, किन्तु वाण भट्टने बिना परदेके ही शङ्कर-पार्वतीके विवाह होनेका वर्णन दिया है। बौद्धकालमें भी परदेका ऐसा रिवाज न था और शंकराचार्यके साथ तो मण्डन मिश्रकी पत्नीने शास्त्रार्थ किया था। कालीदासके समयमें परदा प्रथाका सूत्रपात हो जानेपर भी वह इतनी कठोर न हुई थी। उसको कठोर बनाने वाली कट्टरता, धर्मान्धता और संकीर्णताका प्रारम्भ होता है, पौराणिक कालके मध्य भागमें। धर्म और ईश्वरके पवित्र नाम पर पाप, पाखण्ड और अनाचारका सूत्रपात भी इसी समय किया जाता है। धर्मको अजीविकाका सम्बन्ध बना धर्माचार्य धर्मजीवी बन बैठते हैं और अपनी पोपलीला एवं पोपलीलाका मायाजाल समाजमें फैलाना शुरू करते हैं। स्त्रियोंको भोग-विलासकी सामग्री मान उनको उन्नतिके सब अधिकारों और प्रगतिके सब अवसरोंसे वंचित कर पुरुषोंके हाथकी कठपुतली

बना देते हैं। धर्मके नामपर देवदासी प्रथाका प्रारम्भ धार्मिक एवं समाजिक पतनकी पराकाष्ठा है। और स्त्रीजातिके प्रति किये गये पाप तथा अन्यायकी चरम सीमा है। बाममार्ग तथा चारवाक आदि सम्प्रदायसे उसको विशेष उत्तेजन मिला है। वास्तवमें पौराणिक कालसे ही भारतके नैतिक-पतनका प्रारम्भ होता है और परदा-प्रथा उसी नैतिक-पतनकी द्योतक है। निस्सन्देह, सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिसे वह भीषण दुष्कालका समय था, जब परदे शरीखी बेहूदी प्रथा प्रारम्भ हुई थी।

पौराणिक लोग शूद्रोंको अति हीन दृष्टिसे देखते हैं। वे उनकी छाया तकसे भी दोष मानते हैं। विद्यालयोंमें पढ़ने, मन्दिरोंमें देवदर्शन करने, कुंओं एवं जलाशयोंसे पानी भरने, सड़कों पर चलने, सवारी पर चढ़ने और अच्छा कपड़ा पहिनने तकके अधिकार उनसे छीन लिये गये हैं। स्त्रीको शूद्रोंसे भी अधिक हीन ठहरा कर उसको भी इसी प्रकार प्रायः ऐसे सब अधिकारोंसे वंचित कर दिया गया है। उसकी इच्छा, अभिलाषा तथा आकांक्षाको कुचल दिया गया है। उसका अस्तित्व मिटा दिया गया है। वैदिककालीन सब अधिकार छीनते हुए यह व्यवस्था दे दी गई कि:—

"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।
पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थोहिर परिक्रिया।"

"स्त्रियोंका वैदिक कर्मकाण्ड केवल विवाह-संस्कार है, पतिसेवा ही गुरुकुल-वास है और घरका चूल्हा-चौका ही अग्निहोत्र है।" इसी प्रकार भट्टकल्लूकने यह लिख दिया कि "तस्माद् विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति।" अर्थात्— स्त्रियों

का विवाह ही उपनयन होनेसे इनका उपनयन नहीं किया जाना चाहिये।' जहां वैदिककालमें उपनयन और ब्रह्मचर्य (शिक्षा) के बिना विवाह नहीं हो सकता था, वहां पौराणिककालमें सब कुछ मिटा कर विवाहको और पति-सेवा को ही सब महत्व दे दिया गया। फिर कानून बना दिया कि—"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयीन श्रुतिगोचरा।" स्त्री, शूद्र और नीच द्विजको वेदमन्त्र नहीं सुनाना चाहिये। यदि कहीं सुनलें तो मनु महाराजकी व्यवस्थाके अनुसार उनके कानोंमें शीशा भर कर सदाके लिये डाट लगा देनी चाहिये। बादमें वेदके नामसे ही यह कहा जाने लगा कि "स्त्रीशूद्रौ नाधियातामिति श्रुतेः।"—'वेदका यह आदेश है कि स्त्री और शूद्रको पढ़ाया न जाय।' याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियोंमें भी इसी प्रकार स्त्रियोंको सब अधिकारोंसे वंचित रख कर शूद्रोंके समान ही हीन दृष्टिसे देखा गया है। स्मृतिकारोंकी यह दीक्षा-शिक्षा हिन्दू समाज में वंश-परम्परासे चली आ रही है। यह निश्चय ही मुसलमानी सभ्यताका फल नहीं है। यह हिन्दुओंकी अपनी चीज है जिसका उल्लेख उनके उन ग्रन्थोंमें पाया जाता है, जो मुसलमानी सभ्यता के प्रकट होनेसे बहुत पहिलेके हैं।

यह भी कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि हिन्दू उसके प्रारम्भ होनेका सब दोष मुसलमानोंपर मढ़ते हुए भी उसको छोड़ना नहीं चाहते। मुसलमानोंकी छूत उनको कुछ ऐसी लग गई दीखती है कि मुसलमानी सभ्यताका बोलबाला न रहनेपर भी वह मिट नहीं रही है। यदि वास्तवमें मुसलमानोंके भय वा आतङ्कसे उसका प्रारम्भ हुआ है, तो अब उसका मूल कारण, मुसलमानी राज, नष्ट हो जानेके बाद भी उसको बनाये रखनेका

दुराग्रह क्यों किया जाता है ? भय या आतङ्ककी यह बात सुनते ही हमारा सिर लज्जासे नीचे झुक जाता है। पुरुषोंकी वीरता, सत्साहस और पुरुषार्थका उस समय कैसा अन्त हुआ होगा, जब कि उन्होंने अपने आत्मिकबल, बाहुबल तथा शस्त्रास्त्र-बलका सब भरोसा खोकर केवल दो अंगुल कपड़ेका सहारा लिया होगा! निश्चय ही कायरताकी वह चरमसीमा थी। चाहिये तो यह कि उसके लिये लज्जित होकर परदा-प्रथाका अन्त करके उसका प्राय-श्चित किया जाय ; किन्तु नहीं, निर्लज्जतापूर्ण उस कायरताकी भी बाप-दादाओंकी सम्पतिके समान रक्षा की जा रही है। सर्वसाधा-रणको क्या दोष दिया जाय, जब कि हिन्दू नेता भी पुरुषोंकी कायरताको सब सजा स्त्रियोंको ही देनेपर तुले हुए हैं। वे सार्व-जनिक भाषणोंमें यह कहते हुए संकोच नहीं करते कि जब तक पुरुषोंमें स्त्रियोंकी रक्षा करनेकी शक्ति पैदा न हो जाय, तब तक उनको परदेमें और घरमें ही बन्द रहना चाहिये। वंश-परम्परागत कायरताको कैसे दूर किया जा सकता है और कैसे सदियोंकी भावना तथा मनोवृत्ति बदली जा सकती है ? फिर यह भी आश्चर्य और लज्जाका विषय है कि विवाहसे पहिले तो लड़की की रक्षाके लिये परदे सरीखे किसी विधानकी कुछ जरूरत नहीं समझी जाती और विवाहके बाद भी मायकेमें उसकी आवश्यकताको अनुभव नहीं किया जाता, किन्तु ससुरालमें ही वह सब प्रकारसे अरक्षित मान ली जाती है और वहां उसकी रक्षाके लिये परदेका इतना कठोर विधान आवश्यक हो जाता है। ससुरालवालों विशे-षतः 'पति' कहलानेवाले पुरुषके लिये इससे अधिक लज्जा और अपमानकी कोई दूसरी बात नहीं हो सकती कि वे अपनी लड़कीकी

रक्षा तो बिना परदेके कर सकें, किन्तु दूसरे घरसे आनेवाली कन्या की रक्षा वे दो अंगुल कपड़ेके सहारेके बिना न कर सकें। ऐसी विवेकहीन प्रथाका हिन्दू-समाजके रग-रगमें रुधिर की तरह समा जाना, स्त्रियोंके स्वभावके साथ उसका एकरूप हो जाना और धर्म, जाति तथा कुलकी मर्यादा एवं बड़ोंकी परम्पराके नाम पर उसको सदा बनाये रखनेका दुराग्रह करना भी क्या मुसलमानोंके संसर्ग, भय अथवा आतङ्कका परिणाम है ?

परदा-प्रथाके सम्बन्धमें पुरुषकी मनोवृत्ति कुछ ऐसी बन गई है कि उसको उसने प्रतिष्ठाका भी प्रधान चिन्ह मान लिया है। वैसे किसी भी जातिके गरीब लोगोंमें परदा नहीं किया जाता है। यहां तक कि मुसलमानों, मारवाड़ियों, बिहारियों, बंगालियों और राजपूतोंकी गरीब स्त्रियाँ भी परदा नहीं करतीं। पर, गरीब भी सुसम्पन्न होते ही अपनी स्त्रीसे परदा करवाना शुरू कर देता है और उसकी स्त्री भी घरसे बाहर निकलना प्रतिष्ठाके प्रतिकूल समझने लग जाती है। परदेके प्रति प्रतिष्ठाका यह भाव अब यहां तक पाया जाता है कि परदा न करनेवाले भी परदा करनेकी इच्छा या अभिलाषा रखते हैं और परदा करने वालोंको श्रेष्ठ समझते हैं ! घरमें जिन लोगोंसे परदा करना आवश्यक समझा जाता है, उनसे यदि परदा न किया जाय तो वे इसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। सास-ससुर तथा दूसरे घरवालोंकी मान प्रतिष्ठाके लिये भी परदा करनेका आदेश बहूको दिया जाता है। गुलामको क्या अधिकार है कि वह आंख उठाकर मालिक की ओर देख सके ? भारतके जेलखानोंमें बड़े साहबके आनेपर कैदीको पैर मिला और हाथ पसार कर जिस स्थितिमें खड़ा होना पड़ता है,

उसमें उसको आंखे भी नीचे जमीनकी ओर रखनी पड़ती हैं। वैसा न करना जेलकानूनके अनुसार गुस्ताखीमें शामिल है और एक भयानक अपराध है, जिसकी सजा भी कैदीको दी जाती है। परदा-प्रथाके कारण हिन्दू घर भी जेलखाने बन रहे हैं, जिसमें कैदमें रखी गई स्त्रियोंका कभी आंख उठाना तो क्या, खोलना भी सदाके लिये निषिद्ध ठहरा दिया गया है। कैदीके समान ही हिन्दू स्त्रीके स्वाभिमानको बिलकुल नष्ट कर रसातलमें पहुंचा दिया गया है और पुरुषकी मान-प्रतिष्ठाको ऊंचा उठा कर शिखरपर पहुंचा दिया गया है। इस मनोवृत्ति और व्यवहारका दोष तो दूसरों पर नहीं मढ़ा जा सकता।

कोई भी शासन केवल कठोरता, नृशंसता और स्वेच्छाचार पर सदा कायम नहीं रह सकता। अन्याय पाप और अत्याचारकी नींव हिलनेमें अधिक समय नहीं लगता। अनुभवी पुरुषसे यह सचाई छिपी हुई नहीं थी। इसलिये परदेके साथ स्त्री-जातिपर प्रारम्भ किये गये शासनकी नींवको मजबूत बनाकर उसको सदा कायम रखनेके लिये पुरुषने स्त्रीके सामने लोभ और लालचका भी कुछ कम जाल नहीं फैलाया है। स्त्रीका सहज स्वभाव सौन्दर्यप्रिय है। स्त्रीके इस स्वभावसे भी पुरुषने अनुचित लाभ उठाया है। साज-शृङ्गारकी सब सृष्टि, कीमती आभूषणों तथा चटकीले-भड़कीले वस्त्रोंका सब आविष्कार स्त्रीको लोभ-लालचमें फंसानेके लिये किया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि जिन समाजोंमें परदा अधिक कठोर है, उनमें आभूषण पहिननेका रिवाज भी उतना ही अधिक है। जैसे ही परदा दूर होता है, आभूषणोंकी संख्या भी घट जाती है, वेशभूषामें भी

सादगी आ जाती है और साज शृङ्गार भी कम हो जाता है। पराधीनताके चिन्ह होनेसे ही वेशभूषा तथा साज-शृङ्गारके सब सामान और आभूषण भी परदेके समान ही त्याज्य हैं। पराधीनताका सर्वांगमें त्याग किया जाना चाहिये। परदेको छोड़नेके बाद भी वेश भूषा, और साज-शृङ्गारका मोह बना रहना उचित और वांछनीय नहीं है। यह मोह जब तक बना रहेगा, तब तक परदेसे प्रारम्भ हुई पराधीनताके पाश भी बने रहेंगे और तब तक स्त्रीजाति उनमें फंसी रहेगी। पुरुषों द्वारा फैलाये गये इस लोभ-लालच और स्त्रियोंमें पैदा हुए इस मोहके लिये हम दूसरों को कदापि दोषी नहीं ठहरा सकते। यह हमारा अपना ही दोष है और अपनी ही कमजोरी।

मुंह पर मक्खी बैठते ही उसको हटानेके लिये मनुष्यका हाथ जैसे आप हो ऊपर उठ जाता है, ठीक वैसे ही परिचित मनुष्यके पैरकी आहट कानमें पड़नेके साथ ही स्त्रीका हाथ भी मुंह ढांपनेको अपने आप ही ऊपर उठ जाता है। उसके लिये विशेष सूचना देने या कुछ कहनेकी जरूरत नहीं होती। स्त्रियोंके इस स्वभावके समान हिन्दुओंका भी यह स्वभाव बन गया है कि वे परदेका सब दोष मुसलमानोंके सिर मढ़ देते हैं। अपनी कमजोरी या बुराईका कारण अपनेमें न ढूंढ़ कर उसका दोष दूसरों पर मढ़ देनेवाला आत्मसुधार नहीं कर सकता। आत्मसुधारके लिये आत्म-परीक्षण और आत्म-निरीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये इस भ्रान्त धारणा और निराधार कल्पनाको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दू जिस प्रकार मुसलमानोंसे परदेका प्रारम्भ हुआ बताते हैं, वैसे ही इतिहासज्ञ स्ट्रैबो तो ईरानमें परदा

शुरू होनेका कारण मंगोलियाके प्रसिद्ध विजेता चंगेज़खांको बताता है। उसने लिखा है कि हज़रत मुहम्मदके दो सौ वर्ष बाद चंगेज़खां के समय ईरानमें परदा-प्रथा शुरू हुई। चंगेजखां बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसके समयमें मंगलोंने ईरान तक अपने साम्राज्यका विस्तार कर लिया था और ईरानमें उनके ही कारण परदा-प्रथाका आरम्भ हुआ। यदि हिन्दुओं और स्ट्रैबोंके कथनको ठीक मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि परदा-प्रथा राजनीतिक पराधीनताकी निशानी है और उसका उद्गम स्थान है राजनीतिक निरंकुशता। राजनीतिक पराधीनता और निरंकुशताके इस कलङ्क को अपने माथेपर सदा ही बनाये रखना बुद्धिमत्ता नहीं है।

इतिहासज्ञ बुखारीका यह कथन सन्देहरहित है कि मुहम्मद साहबके समय अरबमें परदा-प्रथा नहीं थी। श्रीयुत अलीअहमद सिद्दीकी इस विषयकी छानबीन करते हुए लिखते हैं कि "हिन्दोस्तानमे अरबसे दो तरहके लोग आये। एक वे थे, जिनकी बीबियां उनके साथ आई थीं, दूसरे वे थे जिनकी रिस्तेदारियां यहां आनेके बाद कायम हुईं। फौजी अरबोंमें तकल्लुफ न था और वे सादी जिन्दगी बसर करनेके आदी थे। जंगका जमाना था। अगर उनकी औरत परदेमे बन्द होतीं; तो सिपाही अरबोंको उनका संभालना मुश्किल हो जाता। वे मैदानमें दुश्मनका मुक़ाबला क्या करते? हिन्दोस्तानी मुसलमानोंमें परदेकी रस्मकी दो वजह हैं। एक तो यह है कि उनपर ईरानकी सभ्यता और तकल्लुफोंका असर पड़ा, दूसरा यह कि यहां आकर अपनी सभ्यता तथा पृथकताको कायम रखना उनको जरूरी प्रतीत हुआ। ईरानमें उस समय ऐश-परस्तीका पूरा जोर था। अमीरों और रईसोंके अन्तःपुर भोग-विलासके

किले बने हुए थे। अरबके उन मुसलमानोंने, जो यहां आये ईरान-वालोंकी नकल की। यहां नयी कौम, नयी सभ्यता और नये देशके असरसे अपनेको बचानेके लिये भी उन्होंने अपनेको अलग रखना पसन्द किया। इस प्रकार उनमें परदेका रिवाज पैदा हो गया। वह उस समयकी घटनाओं और रहन-सहनके तरीकोंसे पैदा हुआ था। मजहबसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न वह अरबकी सभ्यताका ही चिन्ह है। मजहबने स्पष्ट हुक्म दिया है कि तुम अपनी गरदनोंको नीचे रखो। इस तालीम पर अमल करनेके बाद कोई खतरा नहीं रह जाता। गरदन और निगाहको नीचा रखनेका हुक्म मर्द और औरत दोनोंके लिये एक-सा है। बेचारी औरतें मर्दोंसे कमजोर हैं। इसलिये उनको आंख और गरदन नीची रखनेके लिये कैदमें कर दिया गया है। मर्द दुनियामें गरदन उठाये आंखें फाड़कर इस तरह घूमा करता है, जैसे उसके लिये कोई मज़-हबी जिम्मेवारी है ही नहीं। औरतें कमजोर हैं, हमारे हाथमें फंसी हुई हैं, इसलिये उनपर किये गये जुलमकी कोई हद नहीं। भले ही उनकी तन्दुरस्ती मुरझा जाय और शक्ल रोगियोंकी-सी हो जाय, मगर उनको ताजा हवा, सूरजकी गरमी और कुदरतकी दूसरी नियामतों का फायदा उठानेका हक या मौका नहीं दिया जाता। मजहबके नाम पर इससे बड़ी बे-इन्साफी और नहीं हो सकती।"

प्रो० अब्दुल मजीद खांने मुसलमानोंसे परदा-प्रथा दूर करने की मार्मिक अपील करते हुए उनसे कुछ प्रश्न किये हैं उनका दावा। है कि परदेकी घातक प्रथाका मजहबके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह इस्लामके नाम पर किया गया मिथ्याचार है और मनुष्य जातिको पतित बनाने वाला भयानक आविष्कार है।

यह प्रथा पुरानी नहीं, मध्यकालीन है और इस्लामके बहुत बादकी है। उनके प्रश्न ये हैं :—

(१) क्या यह सच नहीं है कि कुरान-शरीफमें स्त्रियोंको काम-काजके लिये घरसे बाहर जानेकी मनाही नहीं है !

[२] क्या यह सच नहीं है कि पैगम्बरके समयमें स्त्रियां मसजिदोंमें जाया करती थीं और बिना मुंह ढके पुरुषोंके साथ निःसंकोच अलग पंक्तिमें खड़ी हो नमाज पढ़ा करती थीं ?

[३] क्या यह सच नहीं है कि प्रतिवर्ष हजके समय काबाकी परिक्रमा करते हुए कोई स्त्री परदा नहीं कर सकती ?

[४] क्या यह सच नहीं है कि लड़ाईके मैदानमें पैगम्बरके साथ स्त्रियां भी जाया करती थीं। वहां घायलोंको लड़ाईके मैदानसे बाहर लाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा आदिका सब काम करती थीं और जरूरत पड़ने पर हथियार ले दुश्मनका मुकाबिला भी करती थीं ?

[५] क्या यह सच नहीं है कि पैगम्बरके समय स्त्रियां खेतों में अपने घर वालोंके साथ बराबर काम किया करती थीं ?

[६] क्या यह सच नहीं है कि उनके लिये जीवन-निर्वाहका कोई धन्धा निषिद्ध नहीं था ?

[७] क्या यह सच नहीं है कि पहिले खलीफाओंके समयमें स्त्रियां उनसे गम्भीर से गम्भीर प्रश्न पूछा करती थीं और उनके शासनकी आलोचना करती हुई उनके दोष भी बताया करती थीं ?

[८] क्या यह सच नहीं है कि पैगम्बरके बहुतसे वचनोंका संग्रह स्त्रियोंसे किया गया है ?

[९] क्या यह सच नहीं है कि इस्लाममें जिस परदेका विधान है, वह स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये है और दोनोंको अपनी दृष्टि नीची रखनेका आदेश दिया गया है ?

[१०] क्या यह सच नहीं है पैगम्बरका यह एक आदेश है कि रजस्वला होने पर स्त्री अपने हाथ और मुंहको छोड़ कर बाकी देहको ढके ?

[११] क्या यह सच नहीं है कि तैमूरलंगसे पहिले किसी भी देशमें कोई भी मुसलमान स्त्री परदा नहीं करती थी ?

[१२] क्या यह सच नहीं है कि जिन मुसलमान देशोंमें तैमूरलंग नहीं पहुंचा, उनमें परदा जारी नहीं हुआ ? अफ्रीकाके मिश्र, मोरक्को और ट्यूनिस आदि देशोंमें परदा नहीं गया।

[१३] क्या यह सच नहीं है कि जिन देशोंपर तैमूरलङ्गने आक्रमण किया, उनमें ही परदा जारी हुआ ? जिनमें भारत अफगानिस्तान और ईरान मुख्य हैं ?

[१४] क्या यह सच नहीं है कि आपत्कालमें सामयिक तौर पर तैमूरलङ्गके समयमें परदा जारी किया गया था ?

[१५] क्या यह सच नहीं है कि अब भी पांच प्रतिशत मुसलमानोंमें ही परदा पाया जाता है ? गांवोंमें रहनेवाली पंचानवे प्रतिशत गरीब जनताने परदेको कभी नहीं अपनाया ?

[१६] क्या यह सच नहीं है कि ऊंची स्थितिके मध्यम श्रेणीके लोगोंमें परदेका रिवाज अपेक्षा कृत मजहबके मान-प्रतिष्ठा के लिये ही अधिक है।

ऐसे ही कुछ प्रश्न परदा-प्रथाके पक्षपाती हिन्दुओंसे भी पूछे जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके और कट्टर-पन्थी मुसलमानोंके उत्तर प्रायः एक-से होंगे। सारांश, यह है कि परदा-प्रथाका प्रारम्भ हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनोंमें ही प्रायः एक ही सरीखे कारणोंसे हुआ है। दोनोंके लिये न वह धार्मिक

जो जेठ या ससुर के नहीं सामने आती।
बाहर न कभी घर से बिना पालकी जाती॥
दिनमें हजार कोशिशें खाविन्द गो करे।
मुंहकी तो कहे कौन नहीं पैर दिखाती॥
देखो तो जरा उनके ही परदे की खूबियाँ।
निर्लज्ज हो सर खोल पहनती है चूडिया॥

बन्धन है, न उसका उनकी प्राचीन सभ्यताके साथ कुछ सम्बन्ध है और न उनकी जन्मभूमिकी उपज है। दोनोंके लिये वह पराधीनता, गुलामी अथवा दासताकी निशानी है। दोनोंका उससे एक-सा नैतिक-पतन और सामाजिक-ह्रास हुआ है। इस समय भी दोनोंमें वह उन विवेकशून्य भावनाओंपर टिकी हुई है, जिनका धर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परदे सरीखी कुरीतियोंको बना रखनेवाली संकीर्णता, अन्धविश्वास और दुराग्रह भी दोनोंमें एक-सा पाया जाता है। रूढ़ि, परम्परा और रीति-रिवाजकी उलझनोंमें दोनों बुरी तरह उलझे पड़े हैं। पुरुषोंकी रीत और बड़ोंकी मर्यादाका भूत भी दोनोंके सिरपर सवार है। लोकाचार और शास्त्राचारके जालमें दोनों एक-से फँसे हुए हैं। हिन्दू पंडे-पुजारी तथा पुरोहितोंके हाथका और मुसलमान मुल्ला-मौलवी तथा पीरोंके हाथका खिलौना बने हुए हैं। दोनों धर्म-जीवी लोगोंके इशारेपर नाचते रहते हैं। परदा-प्रथा सरीखी सभी सामाजिक बुराइयों तथा रूढ़ियों और धार्मिक अन्धविचारों तथा बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये दोनोंको एक-सा यत्न करनेकी आवश्यकता है।

हिन्दुओंमें परदा-प्रथाके इतना दृढ़ होनेका एक कारण संयुक्त-परिवारकी प्रथा भी है। इस प्रथासे हिन्दू समाजको भले ही कभी कुछ लाभ पहुंचा हो, किन्तु स्त्रियोंके लिये तो यह भयानक अभिशाप सिद्ध हुई है। उसने उनको इस बुरी तरह दबा दिया है कि उनके विकासका रास्ता एक दम बन्द हो गया है। उनको सास-ननन्द वगैरः की देख-रेखमें कैदीका जीवन बिताना पड़ता है। परदेसे मुंह ढांप कर रहते हुए भी उनको यह भय सदा बना

रहता है कि कोई बड़ा आदमी सामनेसे न आजाय। संयुक्त-परिवारमें ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या अधिक रहती है, जिनसे स्त्री परदा करनेके लिये बाध्य है। जिन परिवारोंमें स्त्रियोंसे भी स्त्रियोंको परदा करना पड़ता है, उनमें होने वाली उनकी दुर्दशाकी कल्पना करना भी कठिन है। उनकी तनिक-सी स्वतन्त्रता भी सहन नहीं की जाती। साधारण-सी अवज्ञा पर कठोर और भयङ्कर फटकार सुननी पड़ती है। पति भी परिवार वालोंके उस अन्यायपूर्ण व्यवहारका प्रतिवाद नहीं कर ककता, किन्तु उसको भी उसमें मेजबूरन् शामिल होना पड़ता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी परिस्थिति और वातावरणमें रहते हुए उनका तन, मन और आत्मा बिलकुल क्षुण्ण हो गया है, वे संकीर्णचेता हो गई हैं और सचमुच 'अबला' बन गई हैं। केवल सन्तान पैदा करना और घर वालोंकी सेवा करना ही उनका काम रह गया है कुछ और कर सकनेकी शक्ति ही उनमें नहीं रह गई है। इनके व्यक्तित्वकी बड़ी निर्दयताके साथ हत्या की गई है। 'पति बिन गति नहीं' का पाठ उनको पीढ़ी-दर -पीढ़ी रटाया गया है। दासता इसलिये तो सबसे बड़ा पाप है कि दास-दासतामें ही सुख मानने लग जाता है। समझाने पर भी वह उससे मुक्त नहीं होना चाहता। संयुक्त-परिवार और परदेकी कुप्रथाके मेलसे हिन्दू स्त्रियों में दासताकी ऐसी ही भयानक अवस्था पैदा हो चुकी है।

परदा-प्रथाको लक्ष्य करके एक महिलाने पुरुषों पर बहुत ही भीषण आरोप लगाये हैं। परदेके समर्थकोंको उन पर शान्तचित्तसे कुछ विचार करना चाहिये। उसने लिखा है कि—"परदा बुराई है। हम इसको अनुभव करती हैं। हम इसकी निन्दा करती हैं। हम

इसको दूर करना चाहती हैं, पर नहीं कर सकतीं। क्यों ? क्या मै सच कह दूं ? मेरी सम्मतिमें सर्वसाधारण पंजाबी और विशेषतः मेरी जातिके लोग इसके दोषी हैं। उसके दो कारण हैं। एक तो वे कामातुर हैं, दूसरे उनमें नागरिकता-नियम तथा व्यवस्थाकी कोई भावना नहीं है। कुछ तो साधारण आचार-विचारके व्यवहार से अनभिज्ञ अर्ध-पशु ही हैं। हमारे धर्म किस मर्जकी दवा हैं, यदि वे माता और बहिनोंकी जातिका सम्मान करना भी नहीं सिखा सकते ? हर नागरिकका यह स्वतः सिद्ध अधिकार है कि वह सार्वजनिक स्थानोंमें स्वतन्त्रताके साथ घूम-फिर सके। हम स्वतंत्रता और राजनीतिक अधिकारोंके लिये शोर मचाते हैं, पर अपनी बहनोंके इस स्वतः सिद्ध नागरिकताके अधिकारको छीनते हुए पुरुष को लज्जा अनुभव नहीं होती। पुरुप इतना पतित है कि इस परदेकी छायामें वह अपने स्त्री-मित्रोंसे मिलता है, उनको प्रलोभनमें फंसाता है और इस प्रकार उनका सर्वस्व नष्ट कर डालता है। मैं अपने भाइयों से कहूंगी कि वे अपने धर्मों द्वारा स्त्रियों के प्रति पुरुपोंके इस दृष्टिकोणको बदलनेका यत्न करें।"

एक वैद्य शास्त्रीजीने इन आरोपोंको स्वीकार करते हुए लिखा है कि—'मैं अपनी बहिन असग़रीकी सराहना करता हूं कि उसने अपने भावोंको इतने खुले शब्दोंमें प्रकट किया है। सब संसार ही इस समय कामातुर हो रहा है। स्त्रियोंके उद्धारके सब यत्नों द्वारा पुरुष स्त्रीको अपनी वासनाकी तृप्तिके लिये अपना गुलाम बनाये रखना चाहता है। सन्तति-निग्रह भी स्त्रीको लूटनेके लिए पुरुषने नया आविष्कार किया है। बहिन असगरीकी जातिके ही लोग दोषी नहीं हैं, किन्तु सारा ही पुरुषवर्ग दोषी

है। इस स्थितिके सुधारका उपाय धर्म नहीं है। सुधारका तो दूसरा ही मार्ग है। वह यह है कि स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यवहारको ठीक-ठीक समझा जाय। पुरुष अपनी कामुक वृत्तिको त्याग दे। दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धमें पवित्रता पैदा की जाय। हमारी वर्तमान अवस्था तो पशुओंसे भी गई-बीती है।

स्त्रीके प्रति पुरुषके अपराधोंकी तालिका वास्तवमें बहुत लम्बी, भयानक और भीषण बन गई है। स्त्री-जातिके प्रति उसके पाप, अन्याय और अनाचारने उसको ऐसा अपराधी बना दिया है, कि स्त्रियोंके सब आरोप उसको वैद्य शास्त्रीजीके समान स्वीकार करने ही पड़ेंगे। अब तो यही है कि वह इन अपराधोंकी कालिमाको स्वयं ही धो डाले और उस संघर्षको पैदा न होने दे, जिसको स्त्रियोंके जागृत होनेके बाद टालना असम्भव हो जायगा। पाप, अन्याय स्वार्थ, स्वेच्छाचार, क्रूरता और कठोरतापर स्थापित कोई भी सत्ता कायम नहीं रह सकती। पुरुषोंकी स्त्रियोंपर जिस सत्ताका चिन्ह परदा है, वह ऐसी ही है। इसलिये उसका सदा बना रहना असम्भव है। यदि उसको दूर करनेके लिये, स्त्री-पुरुषमें संघर्ष हुआ, तो वह पुरुषोंके लिये भारी कलंक होगा और उसमें ऐसी बहुत-सी शक्ति भी नष्ट हो जायगी, जिसका सदुपयोग समाजके उत्थान, देशकी उन्नति और राष्ट्रके अभ्युदयके लिये किया जा सकता है। अपने विवेक या बुद्धिका मनुष्यको विशेष अभिमान है। उसीका यह जबरदस्त तकाजा है कि पुरुष इस अनिष्टकर संघर्षको पैदा न होने दें और उसमें उस शक्तिको नष्ट न होने दें, जिससे जातीय-निर्माणका वास्तविक और ठोस

कार्य किया जा सकता है। स्त्री-पुरुषकी सम्मिलित शक्तिका दिव्य दीपक उसके हाथमें है। वह चाहे तो उसकी ज्योतिसे अपने घरमें उजाला कर सकता है या उसकी ज्वालासे उसमें आग लगाकर उसको राख कर सकता है। देश, जाति और राष्ट्रके भविष्यको इस प्रकार उज्वल या अन्धकारमय बनाना उसी पर निर्भर है। देखें, वह क्या करता है।

——::०::——

(६)

परदा, घूंघट और बुर्का

—::※::—

परदा-प्रथाके प्रारम्भ होनेके कारणों, दुष्परिणामों, उसके अनौचित्य, पाप और अन्यायपर इतना विस्तृत विचार करनेके बाद उसके अस्तित्व या वर्तमान स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यता नहीं है। कोई भी प्रान्त या समाज ऐसा नहीं है, जिसमें सभी स्त्रियां परदा, घूंघट या बुर्का करती हों, किन्तु फिर भी कुछ प्रान्तों और समाजोंमें परदा विशेष रूपसे पाया जाता है। प्रान्तोंकी दृष्टिसे बिहार, बंगाल तथा राजपूताना-का पहिला स्थान है, दूसरा है संयुक्तप्रान्तका, तीसरा है पंजाब, सिन्ध तथा गुजरात का। समाजोंकी दृष्टिसे कायस्थ, मारवाड़ी, मुसलमान और राजपूत सबसे अधिक कट्टर हैं। बिहारके मैथिलों, राजपूतानाके चारणों, अवधके ठाकुरों और बनियों, बङ्गालके ब्राह्मणों, पंजाबके खत्रियों, महाराष्ट्रके कुनवी-तेली तथा मराठा आदि ब्राह्मणेतर जातियों और कच्छ तथा काठियावाड़के राजपूतोंमें भी परदेकी कठोरता या कट्टरता कुछ कम नहीं है। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, छूत-छात, मान-मर्यादा तथा आचार विचार आदिकी संकीर्णता संक्रामक बीमारियोंके समान छूतसे पैदा होती है और छूतसे ही फैलती है। परदा, घूंघट या बुर्केकी संकीर्णता कठोरता या कट्टरता भी छूतकी ही बीमारी है और छूतसे पैदा

होने वाली क्षयकी बीमारीके समान घातक है। छूतकी इस घातक बीमारीको परदा करनेवाले प्रान्तों और समाजोंके लोग दूर-दूर तक अपने साथ ले गये हैं। अपना जन्म-प्रदेश छोड़ अपने सजातीय लोगोंसे दूर चले जानेके बाद भी उन्होंने परदा नहीं छोड़ा। मारवाड़ी, कच्छी, कायस्थ, राजपूत और मुसलमान आदि जातियोंके लोग व्यापार- व्यवसाय या नौकरी-चाकरीके लिये दूर-दूर जहां भी कहीं गये हैं, वहीं परदा उनके साथ गया है और बराबर बना हुआ है। चाहिये तो यह कि दूर जानेपर अन्ध-विश्वास, संकीर्णता तथा सामाजिक कुरीतियोंमें कुछ कमी हो और इसीसे परदेकी कट्टरता तथा कठोरता भी कुछ कम हो, पर ऐसा होता नहीं है। धर्मान्धता, मिथ्या विश्वास तथा सामाजिक रूढ़ियां उसकी समर्थक तथा पोषक हैं। धर्मके डूबने, जाति-मर्यादाके मिटने और सामाजिक परम्पराके टूटनेका पाप, प्राणोंके गलेमें आ जाने पर भी हिन्दोस्तानी नहीं कर सकता। इसलिये परदा दूर करनेकी कल्पना करना या वैसा विचार तक दिमागमें लाना उसके लिये सम्भव नहीं है। धर्म प्राण हिन्दोस्तानी सब कुछ खो देगा, किन्तु धर्मके नामसे अपनाई हुई, पापसे भरी हुई, गन्दीसे गन्दी प्रथाका भी त्याग वह नहीं करेगा। परदेकी वर्तमान भीषणता, कठोरता तथा कट्टरता इसी मनोवृत्तिका स्वभाविक परिणाम है।

राजपूतानामें यह बीमारी किस प्रकार फैली है और वहांके लोग इसमें किस बुरी तरह चिपटे हुए हैं, इसका वर्णन श्रीयुत रामनारायणजी चौधरीने इन शब्दोंमें किया है—'यह राज-रोग केवल शासक जातियोंमें ही सीमित नहीं रहा। इसकी छूत उन

लोगोंमें भी फैल गई, जो शासकोंके संसर्गमें आये। कायस्थ, ओसवाल, चारण, खत्री और भार्गव आदि जातियोंमें इस छूतसे ही परदेकी कुप्रथा खूब घर कर गई। इतना ही नहीं, जो लोग व्यापार, कृषि आदिमें लगे हुए थे, वे भी ज्यों ही राजकी नौकरी करने लगे कि परदेके पुजारी बन बैठे। ऐसे हजारों आदमी मौजूद हैं जिनकी जाति और जन्मभूमिमें उनके कुटुम्बकी कोई स्त्री परदा नहीं करती, किन्तु जब वे राजकर्मचारी बने, तब उनकी देवियाँ तुरन्त परदेकी चहारदीवारीमें बन्द कर दी गईं। फिर तो नौकरी जानेके बाद भी परदा नहीं गया।' इस समय अंग्रेजी वेश-भूषाको जिस प्रकार मान-प्रतिष्ठाका चिन्ह समझा जाता है, वैसे ही कभी परदा भी मान-प्रतिष्ठाका चिन्ह समझा जाता था और आज-कलके अंगरेजी लिबासकी तरह ही तब परदेका भी प्रसार हुआ होगा।

बङ्गालके देहातों तक का यह हाल है कि वहांके सम्पन्न घरोंकी देवियोंको पर्वों और त्यौहारों पर नदी या तालाब पर जब स्नानके लिये जाना होता है, तब सब ओरसे परदोंसे बन्द डोलीमें बिठाकर ले जाया जाता है और कहारों सहित डोली पानीमें ले जाकर डुबो दी जाती है और उसको वैसे ही भीगी हुई घर वापिस लाया जाता है। तब घर आनेके बाद श्रीमतीजी उसके बाहर आ पाती हैं! कितना भयानक व्यापार है? यदि बेचारी डोलीमेंसे कहीं पानीमें लुढ़क जायं, तो शायद ढूंढ़ने पर भी उनका कहीं पता न चले। बङ्गालमें परदा प्रथाकी इस भीषणताके कारण स्त्रियोंकी जो दीन-हीन अवस्था हो गई है उसका कुछ परिचय विवाहके समयकी एक प्रथासे मिलता है। जब लड़का विवाह

करनेके लिये घरसे निलकता है तब उसकी माता उससे तीन बार पूछती है कि "तुम कहां जाते हो?" लड़का उत्तर देता है कि "तुम्हारे लिये दासी लाने जाता हूं।" इसमें आपत्ति नहीं कि वह घर वालोंकी सेवा करे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि उसको दासी बना कर घरमें लाया जाय। उसपर प्रेमका नहीं, किन्तु डांट-डपटका कठोर नियन्त्रण रखा जाय, उसके साथ समानताका नहीं, किन्तु हीनताका व्यवहार किया जाय और इसीलिये उसको इतना कठोर परदा करने के लिये मजबूर किया जाय।

बिहार, बङ्गालके भी नाक-कान काटता है। वहांकी कठोरता और कट्टरता पर कुछ प्रकाश पीछे डाला जा चुका है। वहां शहरों और गांवोंमें ऐसे घर अधिक मिलेंगे, जिनमें खिड़की और रोशन-दान नहीं होते। सामनेके दरवाजोंसे हटाकर स्त्रियोंके लिये ऐसे कमरे बनाये जाते हैं, जिनमें सूर्यकी किरणों और हवाके झोंकोंका प्रवेश नहीं होने पाता। सबेरे सूर्योदयसे पहिले स्त्रियां शौच आदिसे निपट लें तो ठीक है, नहीं तो फिर दिन-भर प्राकृतिक वेगोंको दबाकर बैठे रहना पड़ता है। सासके सामने तो बहू कभी मुंह खोल ही नहीं सकती, किन्तु बाहरसे आने वाली किसी महिलाके सामने भी बिहारकी गृहदेवी सहजमें मुंह नहीं खोलती हैं। महिला अतिथिका आतिथ्य-सत्कार करना बिहारके पुरुषोंके लिये एक बड़ी उलझन और कठिन समस्या है। लड़की जहां दस वर्षकी हुई कि अपने पिताके सामने भी पूरी स्वच्छन्दताके साथ नहीं आ सकती। संयुक्तप्रान्तकी धर्मान्धता और पंजाबके ढोंगका वर्णन पीछे किया जा चुका है। गुजरात, कच्छ और काठियावाड़के राजपूतोंमें

भी परदा अधिक कठोर है। गोण्डल राज्यकी राजपूत राजकुमारी परदा नहीं करती थीं। इसीसे अनेक राजकुमारोंने उसके साथ विवाह करनेसे इनकार कर दिया। भावनगरके स्वर्गीय महाराज भावसिंहजी के. सी. आई. की पत्नी श्रीमती नन्दकुंवर परदा नहीं करती थीं। परदा न करनेकी शर्त पर ही उनका विवाह हुआ था। राजपूतोंमें इस पर बड़ा असन्तोष फैल गया था और प्रचण्ड तूफान उठ खड़ा हुआ। पर, महारानीने अपने जीवनसे यह सिद्ध कर दिया कि परदेकी कैदसे छुटकारा पाकर एक महिला देश, जाति तथा राष्ट्रकी कितनी सेवा कर सकती है ? वहांके 'राजपूत जनाना-विद्यालय' और 'नन्दकुंवर-बा-अनाथालय' आज भी उनके सेवा-भाव और कर्तव्य-परायणताकी साक्षी दे रहे हैं।

'चांद'—सम्पादक मुंशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तवने कायस्थोंके परदेका जो वर्णन किया है, उसको यहां देनेके लोभका संवरण नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है कि—"परदेका रिवाज जितना कायस्थोंमें है, उतना शायद ही किसी अन्य समाज में हो और जितनी क्षति इसके कारण उसको उठानी पड़ी है, उतनी शायद ही किसी अन्य समाजको उठानी पड़ी हो। संयुक्तप्रान्त और बिहारके कायस्थोंमें यह कुप्रथा पराकाष्ठा तक पहुंच गई है। देहातमें अन्यान्य वर्गोंकी बूढ़ी स्त्रियां तथा बालिकायें बड़ोंकी आंखें बचा या घूंघटमें मुंह छिपा, जरूरत पड़ने पर थोड़ी देरके लिये घरसे बाहर निकल, अपना काम-धाम कर लेती हैं। पर, कायस्थिनें शीघ्र डेवढ़ी लांघनेका पाप नहीं करतीं। मानों, जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त काल-कोठरीका दंड भोगनेके लिये ही विधाताने उनकी सृष्टि की है। मानो, वे इसी लिये बनी हैं कि आजन्म पराधीन पशुकी

तरह घरोंमें बन्द रहकर प्राकृतिक लाभोंसे सर्वथा वंचित रहें। कायस्थ स्त्री, चाहे बूढ़ी हो या जवान, बालिका हो या किशोरी, जो जितना लम्बा घूंघट काढ़ती है, अपनेको परदेके भीतर जितना ही पोशीदा रखती है, वह उतनी ही सभ्य, सुशील और शहूरदार समझी जाती है। कहीं-कहीं तो साध्वीपनका द्योतक यही लम्बा घूंघट माना जाता है। ससुर, जेठ तथा घरके दूसरे सम्बन्धियोंके सामने निकलना, नितान्त आवश्यकता आ पड़ने पर भी उनसे बोलना तो दूर रहा, इस समाज की स्त्रियां पास-पड़ोसकी स्त्रियों और छोटे लड़कोंके सामने भी अपना मुंह नहीं खोल सकतीं। इस नितान्त मूर्खतापूर्ण भद्दी प्रथाको लज्जाशीलताका ही ऊँचा स्थान नहीं दिया गया है, किन्तु यह शराफत और नफासतमें भी शामिल है। जिनकी वंश-मर्यादा बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है, जिनके घरमें शिक्षाका विशेष प्रचार है, जो सौभाग्यवश किसी शिरिश्तेमें नकलनवीसके गौरवपूर्ण उच्च पदपर पहुंच गये हैं, जो तकदीरके जोरसे अर्जी-नवीस या बीस रुपये महीनेके कानून-गो हो गये हैं अथवा जो अपने स्वास्थ्यहीन पुत्र 'मकारानन्द' के विवाहमें लड़की वालेसे भारी गठरी वसूल कर बन्दरकी दुमकी तरह बढ़ी हुई कुल-मर्यादाकी रक्षा किया करते हैं, ऐसे शरीफ खानदान वाले लाला-साहिबोंके यहां इस शरीफाना प्रथाका पालन बड़ी मुस्तैदीके साथ किया जाता है। वे अपनी असूर्यम्पश्या श्रीमतियोंको बड़ी साव-धानीसे छिपा कर रखते हैं। लोक-लोचनोंकी ज्योति तो क्या, मैदानोंमें अठखेलियां करने वाली विमल हवा भी उनके पास तक फटकने नहीं पाती। यहां तक कि इन शरीफजादोंके घरोंकी छोटी-छोटी दुधमुही बच्चियां भी परदोंमें रखी जाती हैं। खेल-कूदका

जमाना आते ही बेचारी निर्दयतापूर्वक घरकी चहारदीवारीके अन्धकारमें कैद कर दी जाती हैं। इससे वे जीवनके लिये अत्युपयोगी अभिज्ञतासे तो वंचित रहती ही हैं, साथ ही उनका स्वास्थ्य भी सदाके लिये विदा हो जाता है। दिन-रात घरोंमें बन्द रहनेसे वे पीली पड़ जाती हैं, शरीर नाना प्रकारके रोगोंका घर बन जाताहै और आलस्य चिर सहचर तथा दुर्बलता प्यारी सखी बन जाती है। घड़ा भर कर उठा लेना या एक मील चलना भी उनके लिये दूभर हो जाता है। समय पड़ने पर आत्मरक्षा कर लेनेकी तो बात ही मत कीजिये। दुर्भाग्यवश उनकी इस दुर्बलता और अक्षमता, नज़ाकत और पीलेपनको सौन्दर्य समझा जाता है। यदि पूर्व जन्मके पुण्य-प्रतापसे उनका जन्म किसी ऐसे घरमें हो गया है जहां भोजन-वस्त्रकी स्वच्छन्दता, गृहकार्यके लिये दास-दासियों तथा रसोईके लिये महाराज या महाराजिनोंकी व्यवस्था होती है, वहां उनकी शारीरिक दुर्दशा पराकाष्ठाको पहुंच जाती है। विलासपूर्ण जीवनके साथ शारीरिक परिश्रमके अभावके कारण युवती होनेसे पहिले ही उन पर बुढ़ापा छा जाता है और यदि कहीं विवाहोपरान्त गर्भवती हो जांय तो मातृपद पानेके साथ ही उनकी जीवन-लीलाकी भी इति-श्री हो जाती है। हमारी यह धारणा है कि परदानशीन नौजवान लड़कियोंकी मौतें जितनी कायस्थ-समाजमें होती हैं, उतनी किसी अन्य समाजमें नहीं होती। हम बीसियों ऐसे कायस्थ पुरुषोंको जानते हैं, जो तीस वर्षकी अवस्था तक पहुंचनेसे पहिले ही चार-पाँच बीबियोंका खातमा कर चुके हैं और आगेके लिये तैयारीमें हैं।

"एक तो 'मसीजीवी' होनेके कारण कायस्थ जाति अपनी शारीरिक दुर्बलताके लिये यों ही बदनाम है, दूसरे ऐसी परदानशीन स्वास्थ्यहीना माताओंकी सन्तान होनेके कारण उनकी यह ख्याति और भी बढ़ती जाती है। वे अपनेको 'क्षत्रिय' प्रामाणित करनेके लिये सिरतोड़ परिश्रम कर रहे हैं। इसके लिये उन्होंने शास्त्रोंके बखिये उधेड़ कर रख दिये हैं, किन्तु इसका उनको जरा भी ख्याल नहीं कि वे परदेकी गन्दी प्रथाके कारण क्षत्रियत्वसे कितनी दूर चले जा रहे हैं। भगवान् चित्रगुप्तकी विशाल मूर्ति बनाने तथा घर-घरमें उनकी षोड्शोपचारसे पूजा करनेके लिये कायस्थ कान्फरेन्सोंमें हर साल ढेरके ढेर प्रस्ताव पास होते हैं, किन्तु सन्तानको दुर्बल और निकम्मी बनानेवाली इस कुप्रथाके मूलोच्छेदके लिये कुछ नहीं होता। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि यदि कायस्थ-समाजने इस घृणित प्रथाका शीघ्र मूलोच्छेद न किया, तो उसको शीघ्र ही इस संसारसे चिर विदा लेनेकी तैयारी करनी पड़ेगी।'

कायस्थोंके सम्बन्धमें श्रीवास्तवजीका ऊपरका विवेचन मारवाड़ी, मुसलमान और राजपूत आदि सभी जातियों पर उसी मात्रा में ठीक बैठता है, जिसमें उनमें परदा पाया जाता है। मारवाड़ी-समाजमें भी परदा-प्रथाका पालन कायस्थोंके समान ही किया जाता है। कायस्थोंका परदा कट्टरताकी पराकाष्ठाको पहुंच गया है. तो मारवाड़ियोंके परदेमें उसके साथ बेहूदगी भी आ गई है। मारवाड़ी समाजका परदा उसकी एक अनोखी चीज है। ऐसा परदा किसी और समाजमें नहीं पाया जाता। मारवाड़ी-स्त्रियां मुंह तो ढांप लेती हैं, किन्तु पेटको खोल रखती हैं, चोली

भी ऐसी पहिनती हैं जो पीठको बिलकुल नहीं ढकती और ऊपरकी ओढ़नी भी पूरी पार-दर्शक होती है। दिन भर बिना किसी परिश्रमके खाली बैठे रहनेसे उनका शरीर इतना भारी हो जाता है कि किसी दूसरेके सहारे बिना वे उठ-बैठ नहीं सकतीं। उस भारी देहमें पेट इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह चलनेके समय भारी घाघरेके ऊपर लटकने लगता है। ऐसे भद्दे देवको मुंह पर परदा कर पेटको खाली रख और भी अधिक भद्दा बना दिया जाता है। फिर उस पर भी एक आंख पर दो अंगुलियोंका घेरा बना उसके बीचमेंसे देखना और भी अधिक भद्दा मालूम होता है। परदानशीन मारवाड़ी महिला अपने इस वेशभूषाके कारण भद्दे पनकी चलती-फिरती मूर्ति बन जाती है। उस भद्दे वेश-भूषाके साथ शरीरके अंग-प्रत्यङ्गमें पहिने जाने वाले भारी और भयानक आभूषण उसको और भी अधिक बदसूरत बना देते हैं। पर भद्दापन बेहूदगीमें परिणत हो जाता है। कराचीके सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक और बीकानेर-राज-परिषद्के लोकप्रिय सभासद रायबहादुर श्रीयुत शिवरतनजी मोहताने ठीक ही कहा था कि "मारवाड़ी-समाजमें स्त्रियोंकी भीषण दुर्दशा है। उनके साथ पशु तुल्य भी व्यवहार नहीं किया जाता। उन बेचारियोंको इस बुरी तरह परदेमें और घरोंकी चहारदीवारीमें बन्द रखा जाता है कि वे किसी योग्य नहीं रहतीं, उनमें कुछ भी साहस नहीं रहता और उनका स्वास्थ्य भी इतना बिगड़ जाता है कि अधिकांश युवावस्थामें मर जाती हैं।" कायस्थोंके समान ऐसे मारवाड़ियोंकी संख्या भी कुछ कम नहीं है, जो तीस वर्षकी अवस्थाके होते न होते चार-पांच पत्नियोंको श्माशन पहुंचानेके बाद भी गृहस्थकी

फिर से आबाद करनेके यत्नमें लगे रहते हैं। इस प्रकार नौ-दस तक विवाह करने वालोंके उदाहरण भी मिलते हैं। फिर भी उन बेचारों में से बहुतोंको पुत्रकी लालसा किसीको गोद लेकर ही पूरी करनी पड़ती है। मध्यप्रान्तके दो-तीन बड़े शहरोंकी बड़ी दूकानोंके मालिक घरानोंकी एक बार गणना की गई थी। तब पता चला था कि इस प्रकार गोद आये हुओंकी संख्या प्रति सैकड़ा सत्तरसे अस्सी तक है किसी घरमें सभी भाइयोंने गोद लेकर ही अपनी वंश-परम्परा कायम की है। इतने विवाहोंके बाद भी विवाहके उद्देश्यका पूरा न होना परदा प्रथाका सबसे अधिक काला और भयानक पहलू है। मारवाड़ियोंमें भी ओसवालोंमें परदा सबसे अधिक कठोर है। वे इस कठोरतामें सब समाजों को मात करते हैं।

विहारके मैथिलोंकी अवस्था भी बहुत कुछ ऐसी ही है। परदा-प्रथाके कारण उस समाजमें स्त्रियोंकी दुर्गति पराकाष्ठाको पहुंच गई है। उसमें विवाहके नामपर स्त्रियोंका खुला क्रय-विक्रय होता है। सौराठ आदि स्थानोंमें जहां एक साथ हजारों विवाह होते हैं, वहां लड़कियोंका सौदा किया जाता है। सौ पीछे पंचानवेसे अधिक शादियां बड़ों बूढ़ोंकी छोटी लड़कियों और छोटे लड़कोंकी बड़ी लड़कियोंके साथ होती हैं। ऐसे अनमेल विवाहोंसे सन्तान तो मिलती ही नहीं, विधवाओंकी संख्या बढ़ती रहती है और समाजका निरन्तर नैतिक पतन होता रहता है। पंजाबके खत्रियों, महाराष्ट्रके कुतकी-तेली तथा मराठे, अवधके ठाकुर-ब्राह्मण एवं बनियो और कच्छ काठियावाड़ आदिके राजपूतोंकी सामाजिक व्यवस्था भी परदा-प्रथाके कारण इसी

प्रकार अस्त-व्यस्त हो रही है और स्त्री समाज विशेष रूपमें उसका दुष्परिणाम भोग रहा है।

मुसलमान स्त्रियोंकी अवस्था भी कुछ अच्छी नहीं है। पर, घरोंकी चहारदीवारीमें ये हिन्दू-स्त्रियोंकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहती हैं। कमसे कम स्त्रियोंसे तो स्त्रियोंको परदा नहीं करना पड़ता। कुरानकी शिक्षा उनके लिये पुरुषोंके समान ही आवश्यक है। इसलिये साक्षर हिन्दू स्त्रियोंकी अपेक्षा साक्षर मुसलमान स्त्रियोंकी संख्या अधिक है। पर, घरोंसे बाहर निकलनेपर जो बुर्का उनको करना पड़ता है, वह भयानक और कठोर है। मुसलमानोंके दिल और दिमाग पर परदेके रिवाजका इतना गहरा असर पड़ा हुआ है कि वह उनके स्वभावका एक अंश बन गया है। उन्होंने परदेको स्त्रियोंकी इज्जत और खानदानी शराफतका बीमा समझ लिया है। उनके विचारोंमें मज़हबकी सबसे बड़ी पाबन्दी स्त्रियोंका परदेमें बन्द रहना है। इसीलिये मुसलमानी समाजमें परदेको ऐसा बुर्का बना दिया गया है कि वह एक लिफाफा बन गया है, जिसमें कागजकी चिट्ठीकी तरह स्त्रीको चलता-फिरता छोटा-सा तम्बू, हिलने-डुलने वाला बण्डल, इधर-उधर लुढ़कने वाली गठरी और सदा पिंजरेमें बन्द रहनेवाला चिड़िया घरका पक्षी बना दिया गया है। इस दृष्टिसे मुसलमान स्त्रीकी अवस्था सबसे अधिक दयनीय और भाग्यहीन है।

परदेके अस्तित्वने इस देशमें स्त्रीको एक समस्या बना दिया है। कन्याका जन्म लेना ही अमंगल माना जाता है। लड़का पैदा करनेके लिये जन्तर-मन्तर और दवाइयोंकी खोज होती रहती है। लड़की पैदा करनेकी इच्छा किसीको नहीं होती। कभी

घरमें मर्दोंके रा ... दृश्य ।
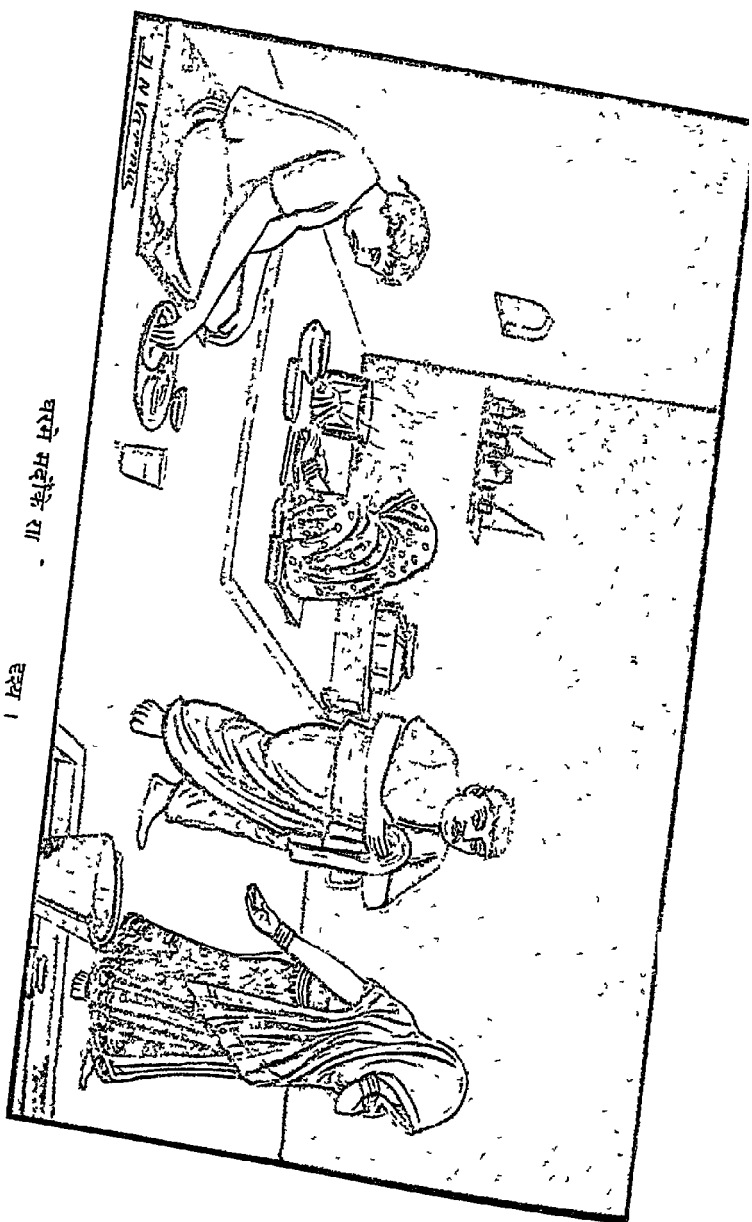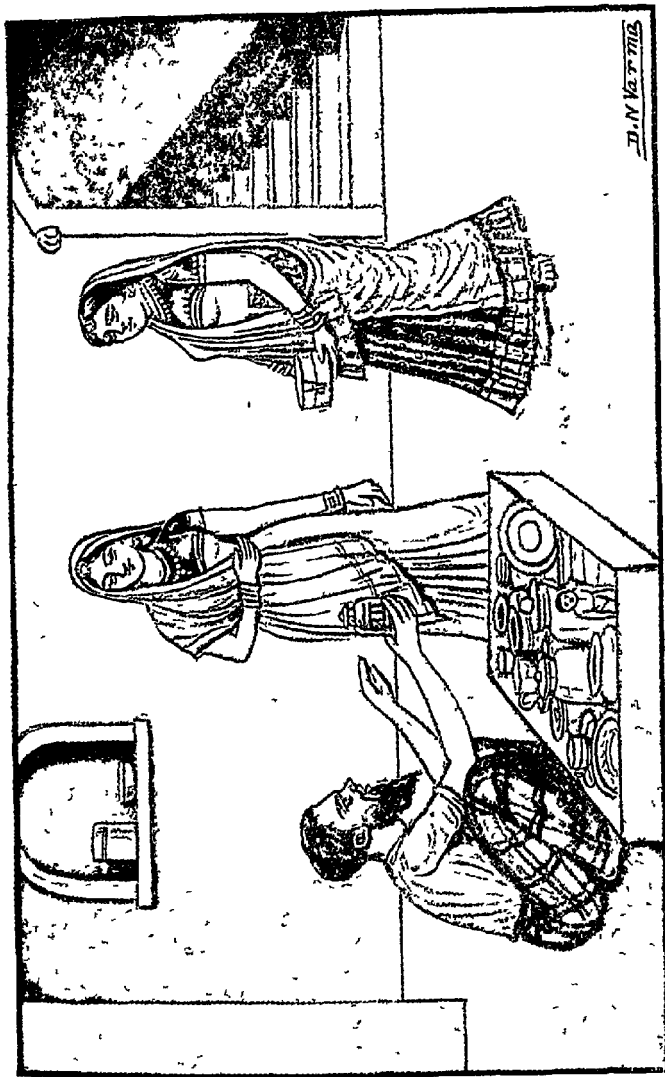
मर्दोंके वाहर चले जाने पर उन्हीं स्त्रियोंका फेरी वालोंके सामने बेशर्मीसे खड़ा होना ।

समय था कि पैदा होते ही लड़कीकी हत्या कर दी जाती थी। उसका गला घोंट देना, उसको जिन्दा जमीनमें गाड़ देना या ऐसी ही अन्य अनेक राक्षसी प्रथायें कई जातियोंमें प्रचलित थीं। अब भी लड़कीके पैदा होनेपर मारवाड़ी-समाजमें कहीं-कहीं यह रिवाज है कि सड़कपर घड़ा ले जाकर फोड़ा जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि लड़की क्या पैदा हुई, कर्म ही फूट गया है। लड़की के भरण-पोषणके लिये लड़कोंके समान प्रबन्ध नहीं किया जाता। उसकी शिक्षापर खर्च करना अपव्यय समझा जाता है। कुछ अक्षर सीखनेमें ही उसके प्रति शिक्षाकी इतिकर्तव्यता मान ली जाती है। पिताकी कमाईपर वह कठोर करके समान होती है। इसलिये ही विवाह कर उसको दूसरे घर भेजनेकी चिन्ता की जाती है। संसारकी गतिविधि और व्यवहार ज्ञानहीन शून्य उस अबोध बालिकाको पति-गृहमें भी चैन नहीं मिलता। बचपनमें ही उसको सन्तान धारण करनेका दारुण क्लेश सहन करना पड़ता है। यौवन प्राप्त होनेसे पहिले ही उसका शरीर दुर्बल और शिथिल हो जाता है। उसको सन्तति उत्पन्न करना भार और गृहस्थका सब व्यापार घृणित एवं दुःखजनक मालूम होने लगता है। यदि कहीं दुर्भाग्यसे पतिदेव अपने ही कर्मोंके कारण इस संसारसे चल दिये तो उस अभागिनीपर मुसीबतोंका पहाड़ टूट पड़ता है। उसके लिये सारा जगत् अन्धकारमय हो जाता है। विधवा होनेके बाद संसारमें उसका अपना कोई नहीं रहता। न वह अपने पतिके घरमें शान्ति, सुख, सन्तोष और सम्मानका जीवन बिता सकती है और न जन्म देनेवाले पिताके यहां ही, उसके लिये कोई आश्रय रह जाता है। माता भी उसके लिये निठुर और नृशंस

हो जाती है। वह उसको अपनी पुत्री समझना छोड़ देती है। सहस्रों अबोध बालायें इस परदेके पीछे तीव्र वेदनायें और असह्य यातनायें भोगती हुई समाजकी भट्टीमें प्रतिदिन सुलगती रहती हैं और अपने जीवनके दुःखान्त नाटकका सहसा अन्तिम परिचय देकर इस संसारसे चल बसती हैं। परदा स्त्री जातिके प्रति समाजके ऐसे सब पाप, अन्याय और अत्याचारको छिपानेके लिये आविष्कृत एक आवरण है।

इस प्रकारके आशयको संक्षेपमें इन शब्दोंमें कहा जा सकता है कि कायस्थों, मुसलमानों और बिहारियोंमें परदा कट्टरता तथा कठोरताकी, मारवाड़ियोंमें बेहूदगी तथा भद्देपनकी, बङ्गालियोंमें दासता तथा अत्याचार की, अवधके ठाकुरों-ब्राह्मणों एवं बनियोंमें धर्मान्धता तथा मिथ्या विश्वासकी और पंजाबके खत्रियोंमें ढोंग तथा नंगेपनकी निशानी है। समस्त देशके लिये वह गुलामी-का चिन्ह है। इसकी कैदमें स्त्री उपेक्षा, घृणा एवं तिरस्कार तथा दासता और पराधीनताका दीन-हीन जीवन बितानेके लिये विवश है। अपने श्रेष्ठ अर्धाङ्गको 'अबला बना कर पुरुष सबल नहीं बन सकता और देशकी अपनी आबादीको इतनी पराधीनतामें रख कर वह स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता। परदेका अस्तित्व पुरुषके लिये कलङ्क और स्त्रीके लिये अभिशाप है। स्त्री और पुरुष दोनोंकी दृष्टिसे उसको दूर करना अत्यन्त अभीष्ट और आवश्यक है।

———:o:———

(७)

भारतका पुरातन आदर्श

—————:०:—————

भारतकी नारी जाति इस समय जिस दीन, हीन और पराधीन अवस्थामें जीवन बिता रही है, वह प्राचीन भारतीय आदर्शके विलकुल विपरीत है। भारतीय आदर्शके अनुसार समाजमें स्त्री-पुरुषका वराबरका दर्जा है। छोटे और बड़ेका वहां कोई सवाल नहीं है। पुरुषके शासनकी उसमें गन्ध भी नहीं है। दोनों एक-दूसरेके पूरक और दोनों ही एक दूसरेके विना अधूरे है। दोनोंके पारस्परिक सहयोग और सम्मिलन पर भारतीय समाजके निर्माणकी आधारशिला रखी गई है। उस सहयोग और सम्मिलनका आधार समता और समानताके सिद्धान्त थे। स्त्रीका 'अबलापन' और पुरुषकी 'नृशंसता' उसके आधार नहीं थे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के पाशविक सिद्धान्त पर उसको कायम नहीं किया गया था। स्त्री और पुरुष दोनों ही समाजकी ईकाई हैं। दोनोके पारस्परिक सहयोगपर समाजकी वृद्धि, विकास और उन्नति निर्भर है। भारतकी प्राचीन सभ्यता और उसके आदर्शका परिचय देनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वैदिक काल सामाजिक आदर्शोंकी दृष्टिसे भारतका सबसे अधिक गौरव युक्त काल था। उसी समयके आदर्शको भारतका अपना पुरातन आदर्श कहा जा सकता है। अपने उसी आदर्शको आज भी हम

अपने सामने रख सकते हैं और उसीके प्रकाशमें इस समयके सब व्यवहारकी हमको परीक्षा करनी चाहिए।

विवाह या सगाई द्वारा स्त्री—पुरुषके उस पारस्परिक सहयोग या सम्मिलनका प्रारम्भ होता है, जो कि सामाजिक संगठनका आधार है। 'स्वयम्बर' वैदिक—कालीन सर्वोत्तम पद्धति थी, जिसमें स्त्री अपनी स्वतन्त्र इच्छासे खूब देख-भाल कर और विचारपूर्वक अपने पतिका स्वयं चुनाव करती थी। पति बननेवाले पुरुषकी या अभिभावक माता-पिताकी अथवा घर—गृहस्थीके शास्त्राचार एवं लोकाचारके मालिक नाइयों पुरोहितोंकी उसमें एक न चलती थी। ऋग्वेद [१० । १२ २७] में बताया गया है कि वह स्त्री बहुत अधिक कल्याण और सुखको प्राप्त करती है, जो वधूकी कामना करनेवाले पुरुषके गुण, स्तुति और वरण करने योग्य गुण सम्पदासे सन्तुष्ट होकर जन समूहमें अपने जीवनके मित्रका स्वयं चुनाव करती है। वैदिक—कालीन स्वयंवर की यह प्रथा भारतके इतिहासमें चिरकाल तक प्रचलित रही। सीताने रामको, द्रौपदीने अर्जुनको, कुन्तीने पाण्डुको, दमयन्तीने नलको और संयोगिताने पृथ्वीराजको इसी प्रकार वरा था। स्त्रियोंके प्रति पुरुषोंका दृष्टिकोण बदलनेपर जब उनको दीन, हीन और भोग बुद्धिसे देखा जाने लगा, तब भारतीय अपने आदर्शसे पतित हो गये और स्वयंवर-प्रथाका भी अन्त हो गया। वैदिक कालमें पूर्ण यौवन प्राप्त होनेपर बड़ी निर्भीकताके साथ अपने अनुरूप पतिका चुनाव स्त्री स्वयं किया करती थी। वैदिक विवाहकी अथसे इति तक सब विधि और विधान ऐसा ही है, जो वर-वधू दोनोंको खूब अच्छी तरह समझ कर करना पड़ता है। पुरोहित या माता-

पिताके करनेका वह काम नहीं है। गृह सूत्रोंकी पद्धतिके प्रतिज्ञा मन्त्रोंसे गृहस्थकी जिम्मेवारीका भार वर-वधू दोनों पर एक-सा डाला जाता है और दोनों ही विवाह मण्डपमें उपस्थित जन समुदायके सामने ऊंचे तथा स्पष्ट शब्दोंसे उसको निभानेकी प्रतिज्ञा करते हैं। "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् का स्पष्ट आदेश समझदारी की अवस्था प्राप्त करनेके बाद पाणिग्रहण करनेवाली युवतीके लिये ही हो सकता है वस्त्र परिधान, यज्ञ परिक्रमा. सप्तपदी, शिलारोहण, केश-संवरण, सूर्य-दर्शन, ध्रुव-दर्शन, अरुन्धती-दर्शन आदि की सब विधि दोनोंके लिये एक-समान है और उसके द्वारा दोनोंको एक सूत्रमें बांधा जाता है। सप्तपदीमें अन्न, धन, कल्याण और प्रजा आदि की इच्छा करते हुए सातवां कदम सख्य भावकी कामना करते हुए 'सखे ! सप्तपदी भव' कह कर उठाया जाता है। सखी शब्द समानता- समता एवं मित्रताके उस भावका द्योतक है जिससे दोनों एक दूसरेके साथ हृदयसे हृदय और मनसे मन मिलाकर एक होते हैं। विवाह-प्रकरणके मन्त्रोंको यहां उद्धृत करके हम इस प्रकरणको अधिक लम्बा करना नहीं चाहते। जिनको ऊपर की पंक्तियोंके कथनमें सन्देह हो, वे वैदिक विवाह-पद्धतिके किसी भी ग्रन्थसे उसकी परीक्षा और समीक्षा कर सकते हैं।

वेदका यह स्पष्ट आदेश है कि स्त्रियां सर्वसाधारणमें उत्तम वस्त्र धारण करके बिना किसी झेंप या संकोचके निःशङ्क होकर चलें। (ऋग्वेद ८। १७।७) वेदोंकी सभ्यताके समयमें स्त्रियां भी पुरुषके समान वेदों और शास्त्रोंकी विदुषी होती थीं। मन्त्र-द्रष्टा होनेसे वे ऋषि पदको प्राप्त करती थीं। यज्ञ करनेका अधिकार

उनको प्राप्त था। घोपा, लोपामुद्रा, ममता, अपाला, सूर्या, इन्द्राणी, सामराज्ञी, विश्ववारा, गोधा आदि अनेक नामोंकी ऋृषि-स्त्रियोंका वैदिक-साहित्यमें उल्लेख पाया जाता है। ऋषिवारा सरीखी स्त्रियां तो ऋृत्विजका भी काम करती थीं। वैदिक—कर्मकाण्डके समान शस्त्रास्त्र विद्यामें स्त्रियोंके निपुणता प्राप्त करनेकी साक्षी भी वेदोंमें मिलती है। ऋृग्वेद (१ । ११२ । १०) में कहा है कि खेलराजकी स्त्री विशंखलाकी युद्धमें टांग टूट गई, इसके स्थानपर अश्विनी-कुमारोंने लोहेकी टांग बिठा दी। और दूसरी जगह बताया है कि मुंगल ऋृषि की स्त्री, इन्द्रसेनाने अपने पतिके घरमें गायें चुरानेके लिये आये हुऐ चोरोंका मुकाबला किया, स्वयं रथ हांककर उनका पीछा किया और चोरी गया माल वापिस लिया। कंकेयीने युद्ध-क्षेत्रमें पहिया टूटनेपर रथको सम्भाल कर दशरथको प्रसन्न करके दो वर प्राप्त करनेका बचन लिया था।

वेदोंके बाद ब्राह्मण कालमें भी ब्रह्म विद्यामें पारंगत विदुषियां मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा आदिके नाम मिलते हैं। ब्राह्मण कालको ही यज्ञ काल कहना चाहिये, क्योंकि याज्ञिक कर्मकाण्डका इतना अधिक विधान उसी समय मिलता है। यज्ञ सम्बन्धी उस कर्म-काण्डमें स्त्रियोंको पतिके बराबरका आधा हिस्सा प्राप्त था। यज्ञमें पतिके साथ अर्धासन पर बैठनेसे ही उनको अर्धांगिनी कहा गया। यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचर्याश्रममें प्रविष्ट हो वेदा-ध्ययन करनेका उनको पूरा अवसर और अधिकार प्राप्त था। तब वे शस्त्रास्त्र की विद्याका भी अभ्यास करती थीं। जीवनको सरस बनानेके लिये काव्य, संगीत, साहित्य, नृत्य आदि कलाओंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करतीं थीं। यज्ञोपवीत शिक्षा प्राप्त करनेके अधि-

कारकी सनद थी। यह सनद स्त्री और पुरुष दोनोंको मिलाती थी। वेदमें कहा गया है कि –"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" ब्रह्मचर्य द्वारा ही कन्या युवक पतिको प्राप्त करती है। सूत्र ग्रन्थोंमें भी कहा गया है कि "समानं ब्रह्मचर्यम्।' स्त्री पुरुष दोनोंके लिये ब्रह्मचर्य समान है। गोभिल गृह्यसूत्रमें कहा गया है कि कन्याका पिता उसको उत्तम वस्त्र और यज्ञोपवीत पहिनाकर विवाहके लिये लावे। स्मृतियोंके समयमें स्त्रियोंको इन अधिकारोंसे वंचित कर दिया गया। इसीलिये यमस्मृतिमें कहा गया है कि:—

"पुराकल्पेषु नारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदस्य सावित्री वाचनं तथा॥"

वेदका समय स्मृतिकारोंके लिये प्राचीन हो चुका था। इसीसे उसके लिये 'पुराकल्प' शब्दका प्रयोग करते हुए कहा गया है कि प्राचीनकालमें स्त्रियोंका उपनयन होता था, वे मेखला पहिनती थीं; वेदकी शिक्षा और सावित्रीका उपदेश भी ग्रहण करती थीं। सनातनी पण्डित वैसे चाहे जो कुछ भी कहें और स्त्रियोंकी प्रगतिका कितना भी विरोध क्यों न करें, किन्तु इससे वे भी इनकार नहीं कर सकते कि वैदिककालमें स्त्री और पुरुष की शिक्षामें कोई अन्तर नहीं था, उन्नतिके अवसर दोनोंको एक समान प्राप्त थे और स्त्रीको पुरुषसे हीन नहीं समझा जाता था। बम्बईके खेमराज-श्रीकृष्णदासके छापाखानेमें मुद्रित सिद्धान्त कौमुदीकी भूमिकामें श्रीकाशीशेषबकटाचार्य शास्त्रीने लिखा है कि "स्त्रियोऽपि विद्याध्ययनाध्यापनयो रधिकारिण्यो भवन्ति—ब्राह्मणेन षडङ्गोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेत्युक्तेः। अष्टवर्षंब्राह्मणमुपनयति तमध्यापयीत-इत्युक्तेश्च। अत्र ब्राह्मणपदं जातिपरं तेन ब्रह्मण जातीयानां पुंसामिव हि स्त्रीणा-

मपि तज्जातीयानां तदध्ययनमध्यापनं भवति।" अर्थात् "स्त्रियों को भी विद्याके पढ़ने और पढ़ानेका अधिकार है। यह कहा गया है कि ब्राह्मणको छओं अंगों सहित वेद पढ़ने और पढ़ाने चाहियें, आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये और उसको पढ़ाना चाहिये। इन वचनोंमें ब्राह्मण शब्द जाति वाचक है, लिंग वाचक नहीं। इसलिये ब्राह्मण जातिके पुरुषोंके समान स्त्रीको भी ब्राह्मण होनेसे अध्ययन और अध्यापनका अधिकार प्राप्त होता है।" अन्य ग्रन्थोंमें भी स्त्रियोंके वैदिककालीन इस अधिकारको निर्विवाद माना गया है।

महाभाष्यकार पातञ्जलिने शातपथिकी, उपाध्याया, आचार्याणी आदि प्रयोगोंकी सिद्धि की है। शतपथ ब्राह्मणकी विदुषी स्त्रीको शातपथिकी, कृत्स्नशास्त्राकी पारंगतको काशकृत्स्ना, उपाध्यायका का काम करनेवालीको उपाध्याया और आचार्यका काम करनेवालीको अचार्याणी कहा गया है। ऐसी स्त्रियोंके अभावमें इन शब्दोंके प्रयोग की क्या आवश्यकता हो सकती थी?

वैदिककालमें स्त्रियोंकी उच्च स्थिति, पुरुषोंके समान उनके अधिकार और उन्नति करनेके उनके ही समान सब अवसर प्राप्त होनेके सम्बन्धमें और अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। भारतके वैदिक पुरातन आदर्शोंका परिचय देनेके लिये भी ये यथेष्ट होने चाहियें। फिर भी गृहस्थमें उनकी स्थितिको स्पष्ट करनेके लिये दो एक प्रमाण और दे देनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। विवाह प्रकरणमें वधूसे कहा जाता है कि –"गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ वशिनी त्वं विदथमावदासि। अर्थात् "तुम घर जाओ, वहां जाकर तुम घरकी मालकिन बनो और घरके धर्म-कर्मका परिचालन

करो।" फिर कहा जाता है कि 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञीश्वश्र्वां भव, ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञे अधिदेवेषु।' अर्थात् "ससुर सास, ननन्द, देवर आदि सब पर सम्राज्ञी बन कर तुम पतिके घर जाओ।" जिस वधूको दासी बनाकर सेवा करानेके भावसे घरमें लाया जाता है, उसके सम्बन्धमें वेदका आदेश कितना ऊंचा और कितना स्पष्ट है ? वर्तमान व्यवहार उससे बिलकुल उल्टा है। सच तो यह है कि मूल सत्यको भूलकर आजकल केवल मिथ्याको धर्म मान लिया गया है। इस मिथ्या-व्यवहारमें एक मात्रा भी कम-अधिक हुई कि धर्म डूबनेके काल्पनिक भूतके भयसे हम थर-थर कांपने लगते हैं, क्योंकि धर्म डूबनेके साथ ही नरकके द्वार खुलने का मिथ्या डरका भूत भी तो हमारे सिरपर सवार है। पर यह देखने और समझनेकी कभी चेष्टा ही नहीं करते कि हमारा धर्म तो कभी का डुब चुका है और स्वर्गकी सृष्टिको अपने मिथ्या व्यवहारसे हमने कभी का नरक बना रखा है।

भारतीय-समाज-रचनाकी प्राचीन वर्णाश्रम पद्धतिके आदर्श पर विचार करने पर भी यह सहजमें स्पष्ट हो जाता है कि घरकी मालिक या सम्राज्ञी 'वधू' ही हो सकती है, सास नहीं। मनुष्यकी व्यक्तिगत उन्नतिके लिये चार वर्णोंका विधान है। मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुको पच्चीस-पच्चीस वर्षके चार हिस्सोंमें बांटा गया है और उनको क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासका नाम देकर स्पष्ट आदेश दिया गया है कि पुत्रके विवाहके बाद घर-गृहस्थीका सब काम उसके सपुर्द कर पिता पत्नी सहित वानप्रस्थी होकर घरसे अलग हो जाय। वैसे भी बड़ा पुत्र जब पच्चीस वर्षका होगा, तब पिताकी आयु पचास वर्षसे अधिक होकर उसके

गृहस्थाश्रमकी अवधि पूरी हो जायगी और तब उसको वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जब समाजमें इस व्यवस्थाके अनुसार आश्रम-धर्मका पालन होता होगा, तब बहू पर सासको अपना शासन कायम करने और गृहस्थीके सास-बहूके उन झगड़ोंके लिये कोई अवसर नहीं पैदा होता होगा, जिनके कारण सर्वश्रेष्ठ गृहस्थाश्रम स्वर्ग न रह कर नरक बन गया है। यह समझना कठिन नहीं है कि तब गृहस्थमें भी स्वयंवर और विवाहके समान परदेके पापका जञ्जाल नहीं फैला हुआ था।

गृहस्था-आश्रमको सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ, सबका आश्रय-स्थान और सबसे प्रधान माना गया है, क्योंकि मनुष्य जीवनके विकासका वह साधन है। स्त्री-पुरुष दोनोंको आत्मोत्सर्ग पर उसको कायम किया गया है। दोनोंको उसमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत आकाक्षा और व्यक्तिगत इच्छाका त्याग कर दूसरे की सेवाका व्रत लेना होता है। "सर्वभूत हितेरताः' के उच्चतम मानवधर्मकी क्रियात्मक शिक्षा जिस विद्यालयमें दी जाती है, वह गृहस्थ है। गृहस्थके वैदिक आदर्शके अनुसार दोनोंको अपने व्यक्तित्वको एक दूसरेके लिये भुला देना आवश्यक है। एक दूसरेसे आंख छिपा कर कभी कोई काम न करनेकी दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं। इसलिये स्मृतिकारोंको भी यह करना पड़ा है कि:—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्रवै ध्रुवम्॥"

"जिस कुल या परिवारमें स्त्रीसे पुरुष और वैसे ही पुरुषसे स्त्री सदा सन्तुष्ट रहती है, उसकी निश्चित कल्याण होता है।" जहां

इस प्रकार पति-पत्नी दोनों ही एक दूसरेके सुख दु.ख, सन्तोष और सुभीतेका पूरा ध्यान-रखते होंगे और जहां समता तथा समानताका व्यवहार होता होगा वहां स्त्रियोंकी हीनता की द्योतक परदा सरीखी कोई भी कुप्रथा कैसे हो सकती थी। यह कुप्रथा वैदिककालके बहुत समय बादके पौराणिक कालकी उपज है, किन्तु पौराणिक कालके पूर्व भागसे भी स्त्रियोंको पराधीनताके बन्धनोंमें ऐसा नहीं जकड़ा गया था जैसा आजकल जकड़ दिया गया है। मन्दिरोंमें और उनमें अधिष्ठित देवी देवताओंकी कल्पना पौराणिक कालकी है। पैसेको ही सब समझनेवाले मन्दिरके मालिक, पुजारियों और सनातनधर्मके ठेकेदारोंने भले ही देवदर्शनको झांकीमें परिणत कर देवी-देवताओंको भी स्त्रियों के समान दरवाजोंके भीतर परदोंके पीछे बैठा दिया है, किन्तु ऐसा मन्दिर एक भी नहीं है जिसमें नारायणके साथ बैठी हुई लक्ष्मी, रामके साथ बैठी हुई सीता और शङ्करके साथ बैठी हुई पार्वतीको परदेमें बिठाया गया हो या उनसे घुंघट कढ़वाया गया हो। परदानशीन एक भी हिन्दू देवी किसी मन्दिरमें अधिष्ठित नहीं की गयी। सीताराम, राधाकृष्ण तथा लक्ष्मी नारायण आदि का जाप करते हुए सदा ही देवतासे देवीको पहिले स्थान देनेवाला दुर्गा, चण्डी तथा भवानीका उपासक हिन्दू-समाज अपनी गृहदेवियोंको इस प्रकार दीन-हीन समझकर धर्मके नामपर उनको परदेकी कैदमें कैदीका जीवन वितानेके लिये विवश करे, यह आश्चर्य और दुःखका विषय है स्पष्ट ही यह धर्मके प्रतिकूल है।

पौराणिककालके पूर्व भागके ही सम्बन्धमें यूनानी यात्री मेगास्थनीजने लिखा है कि 'भारतकी स्त्रियां खुले मुंह रहती तथा

सब कामकाज करती हैं। शूरवीर स्त्रियां अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो हाथीपर चढ़ कर पतियोंके साथ युद्धक्षेत्रमें जाती हैं।' वैदिक सभ्यताके गिरते हुए युगमें भी हमको वैदिक आदर्शकी टिमटिमाती हुई ज्योति दीख पड़ती है। स्त्रियोंकी विद्वत्ता, वीरता और साहस की कुछ साक्षियां मिल जाती हैं। लीलावतीकी गणितशास्त्रकी विद्वत्ताका लोहा आज भी माना जाता है विद्याधरीका अपने पति मण्डन मिश्र और शंकराचार्यके शास्त्रार्थमें मध्यस्थ होना और पतिके पराजित होनेपर स्वयं शास्त्रार्थके लिए उद्यत होना उपनिषदोंके उस समयकी याद दिलाता है, जब याज्ञवल्क्य सरीखे शास्त्रज्ञ विद्वान्को भी गार्गीके प्रश्नोंका उत्तर देना कठिन हो जाता था और उसको भरी सभामें यह कहना पड़ता था कि "गार्गी' मातिप्राक्षी:' "गार्गी, अब और प्रश्न मत करो।"-भोज और विक्रमादित्यके समयमें भी स्त्रियोंकी विद्वत्ताके उदाहरण मिलते हैं। विद्योत्तमाके साथ कालिदासके संवाद होनेकी कथा प्रसिद्ध है। कालिदासको अपनेको अपनी पत्नीके अनुरूप बनानेके लिये ही अध्ययन करना पड़ा था और उसके ही कारण उन्होंने 'कविकुलगुरु' का पद प्राप्त किया। शासन कार्य करनेवाली अहल्याबाई, युद्धकालमें निपुण वीरताकी अवतार लक्ष्मीबाई और राजपूतानाकी सहस्रों वीर नारियां भारतके पुरातन आदर्शकी आज भी याद दिलाती हैं, जिसको इस समय सर्वथा भुलाया जा चुका है। इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि पौराणिक कालमें परदेका सूत्रपात हो जानेपर भी और रामायण, महाभारत तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख होने पर भी भारतीय आदर्शके प्रतिकूल है। भारतकी दीक्षा-शिक्षाका वह विषय नहीं है और

पौराणिककालमें भी वह इस समयके समान ठोस, व्यापक तथा भयानक न हुआ था। वैदिक आदर्श और भारतीय सभ्यताके अनुसार स्त्री-पुरुष दोनों एक रथके दो पहिये हैं। दोनोंकी समान जोड़ीसे ही गृहस्थका रथ या समाजकी गाड़ी निर्विघ्न चल सकती है एक की आँख पर परदा डाल, उसको दीन-हीन अवस्थामें रख गृहस्थ और समाजके व्यवहारके निर्विघ्न बने रहनेकी आशा नहीं की जा सकती।

यहां भारतीय पुरातन आदर्शका विवेचन उन लोगोंके लिए किया गया है, जो बात-बातमें प्राचीनताकी, धर्मकी मर्यादाकी तथा भारतीय सभ्यता की दुहाई देते और समाजको रसातलमें ले जाने-वाली हरएक कुरीतिका समर्थन धार्मिक मर्यादाके नामसे किया करते हैं। अच्छा हो, यदि वे निष्पक्ष हो, हठ और दुराग्रह छोड़, स्त्री जातिके प्रति अपनी मिथ्या भावनाका त्याग कर भारतीय आदर्शको समझनेका यत्न करें और उसको ठीक-ठीक समझ कर उसके अनुकूल आचरण भी करें। परदा तो समाजके लिए इतनी कुत्सित, घातक और अन्याय मूलक प्रथा है कि उसका अन्त करनेके लिये शास्त्रोंके प्रमाण प्राचीन व्यवहार, वैदिक आदर्श अथवा भारतीय सभ्यता की साक्षी पेश करनेकी कोई अवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये। उसकी बेहूदगी, उसका पाप और उसका अन्याय उसको मिटानेके लिये बस हैं। केवल परदा, किन्तु सभी प्रथाओंके सम्बन्धमें उनकी उपयोगिता और उनके हानि-लाभ की दृष्टिसे विचार किया जाना चाहिये। महात्मा गान्धीने अछूतोद्धार या अस्पृश्यता-निवारणके सम्बन्धमें प्राचीन शास्त्रोंके प्रामाणिक विद्वानों के साथ दिमाग लगानेमें बहुत-सा समय खराब करनेके बाद यह

ठीक ही लिखा था कि समाज सुधारके क्षेत्रमें काम करनेवालोंको शास्त्रोंकी चिन्ता छोड़कर अपने काममें लगा रहना चाहिये। एक स्वर्गीय राजनीतिक नेताने भी यह ठीक कहा था कि 'निस्संदेह हमारी पुरानी सभ्यता सबसे ऊंची, पुरानी और पहली सभ्यता है, किन्तु हमको उसका मोह छोड़ना होगा। चाहे कितनी भी प्रिय भावनाओं पर उसका कितना भी ऊंचा महल क्यों न खड़ा किया गया हो, हमको उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ेगा। कोई राष्ट्र कितना भी ऊंचा क्यों न रहा हो पर प्रगति को आवश्यकता उसकी भी बनी रहती है। कोई भी सभ्यता ऐसी नहीं, जिसको सुधारोंकी जरूरत नहीं है। भूतकालकी इतनी ही महिमा है कि वह हमारे वर्त्तमान जीवनकी समस्याओंको हल करनेमें सहायक होता है। भविष्यका उत्साहप्रद स्वप्न और वर्त्तमानकी स्थिर दृढ़ता ही हमारा मूलधन होना चाहिये। इस समयकी सामाजिक अवस्थाको आमूल बदलनेकी जरूरत है। समाजके जीवनमें भयानक उथल-पुथल पैदा करना नितान्त आवश्यक है। सुधार विरोधी शक्तियोंपर ठीक सामनेसे आक्रमण होना चाहिये। यदि हिन्दू सभ्यता स्त्रियोंको परदेकी कैदमें रखनेको धर्म कहती है और मुसलमानी सभ्यता उनको हरममें रखना ही मजहब बताती है, तो दोनोंका ही अन्त कर देना चाहिये। यदि हिन्दू सभ्यता जातपांत और रजोदर्शनसे पहिले ही लड़कीके विवाह की समर्थक है और मुसलमान सभ्यता बहु विवाह की पोषक है, तो दोनोंको ही जड़से उखाड़ फेंकना चाहिये। शास्त्र और शरियत हमारे सुधार में बाधक हैं, तो दोनोंको ही उठाकर सागरके गहरे पेटमें डुबो देना चाहिये। पीछे की ओर ताकने झांकनेसे काम नहीं चलेगा।

भूतकालीन अन्ध विश्वासके सब बन्धन एक साथ काट कर भविष्य पर भरोसा रखनेसे ही अभीष्ट सिद्धि होगी।"

परदा-निवारण स्त्रियोंकी स्वाधीनताके आन्दोलनकी प्रतीक है। उसकी प्रगतिको कोई भी कारण बता कर या बहाना बताकर रोका नहीं जा सकता. क्योंकि इतिहास साक्षी है कि स्वाधीनताकी भावनासे उठाये गये किसी भी आन्दोलनको सब शक्ति लगा कर भी कुचला नही जा सका। पानीकी तेज धाराकी तरह वह विघ्न, विरोध और बाधा पर भी अपना रास्ता बनाता चला जाता है। आज नहीं, तो कल उसकी सफलता निश्चित है। इसी प्रकार परदा निवारणका आन्दोलन भी सफल होगा। स्त्री-जाति पराधीनताके सब बन्धनोंसे अवश्य मुक्त होगी और समाजमे उसको पुरुषोंकी बराबरीमें समता एवं समानताका वही दर्जा प्राप्त होगा, जो कि भारतकी पुरातन वैदिक सभ्यताके दिनोंमें प्राप्त था। जो लहर टर्की, ईरान और अफ़गानिस्तान सरीखे कट्टरताके पुजारी देशोंके बाद भारतमें अपना रास्ता बना चुकी है, उसको दबाया नहीं जा सकता। यह वह सचाई है, जो समाजमें स्थापित होनेके लिए ही प्रकट हुई है।

---

(८)

महिलाओंकी जागृति, परदा कैसे छोड़ा ?
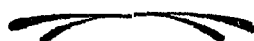
जागृति, प्रगति और स्वाधीनताका विकास प्रातः कालीन सूर्यकी किरणोंके विकासके सामने सदा ही चहुंमुखी और व्यापक होता है। इतना व्यापक कि देश अथवा राष्ट्रका कोई भी हिस्सा उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। पराधीनतासे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र होनेकी भावना जब देशवासियोंमें जाग उठती है, तब पराधीनताका अन्धकार देश या राष्ट्रके किसी भी कोनेमें बना नहीं रह सकता। महिलाओंकी जागृति उसी व्यापक भावना-का एक अंग है। यह संभव नहीं है कि पुरुष स्वतन्त्र होना चाहे और स्त्री पराधीन बनी रहे। इसलिये सभी देशोंमें और भारतमें भी महिलाओंकी जागृतिका श्रीगणेश प्रायः राजनीतिक स्वतन्त्रता या समत्ताकी प्राप्तिके तत्त्वोंके साथ-साथ हुआ है। जहां ऐसा नहीं हुआ है, वहां ऐसे यत्नोंसे उसको विशेष उत्तेजना अवश्य प्राप्त हुई है।

भारतमें महिलाओंकी जागृतिके सूत्रपात करनेका श्रेय राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे और डाक्टर रामकृष्ण भण्डारकर आदिको है, किन्तु उनका कार्य्य विचार-क्रान्ति तक ही सीमित रहा। अन्याय पूर्ण स्थितिसे
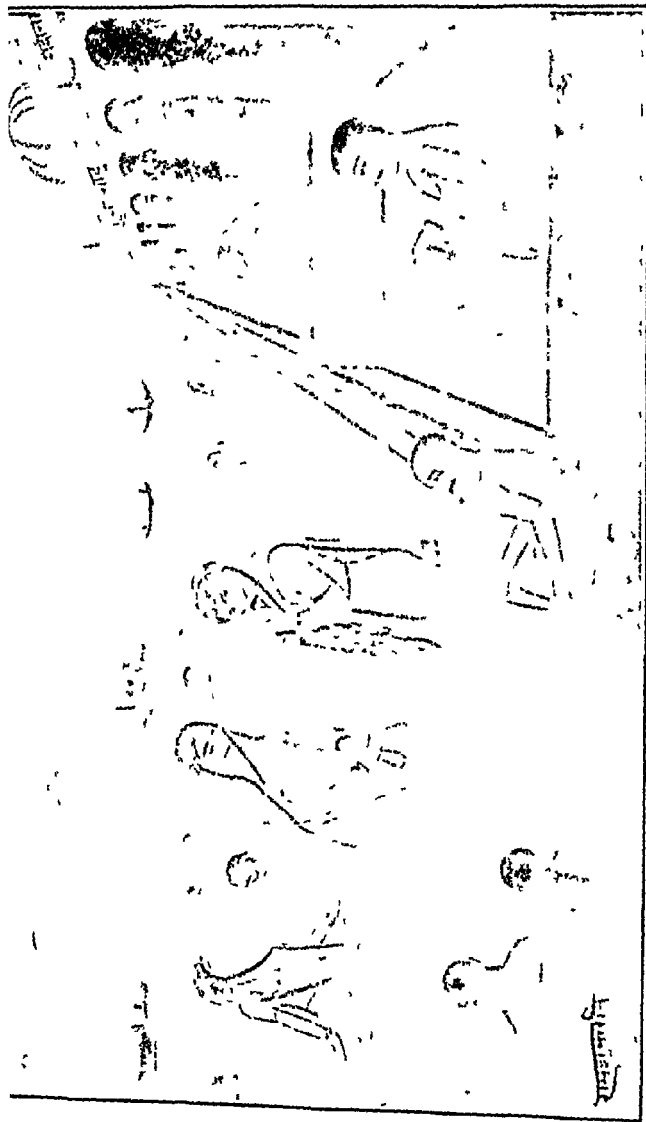
महिलाओंका उद्धार करनेका भी उन्होंने यशस्वी कार्य किया। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाजने भी इस सम्बन्धमें सराहनीय कार्य कियाहै। अन्य अनेक सुधारक महानुभावों और संस्थाओंके कार्यसे भी इस विचार-क्रान्तिको विशेष वल और शक्ति प्राप्त हुई है। कन्या-महाविद्यालय जालन्धरके संस्थापक स्वर्गीय स्वनामधन्य श्री लाला देवराजजी, कन्या-गुरुकुल देहरादूनके जन्मदाता अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी और महाराष्ट्र-महिला-विश्वविद्यालयके प्रवर्तक त्यागवीर आचार्य केशव धोंडो पन्त कर्वे आदिका नाम भी इस सम्बन्धमें सदा अभिमानके साथ लिया जाता रहेगा। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यताके संसर्गका भी कुछ प्रभाव हुआ है। दूसरे देशोंकी महिलाओंकी जागृति एवं प्रगतिसे भी उसको कुछ वल मिला है। इस प्रकार प्रायः पूरी एक शताब्दी से विचार-क्रान्ति तथा जागृतिके लिये निरन्तर यत्न कार्य और आन्दोलन होने पर ही भारतीय महिलाओंमें स्वतन्त्रताकी भावना उद्दीप्त हुई है, १६३० और १६३२ के राष्ट्रीय आन्दोलनसे। १६२० के आन्दोलनके समय स्त्रियोंका कहीं पता भी न था। उस आन्दोलनके वाद यह अनुभव किया गया कि स्त्रियोंको अलग रख कर राष्ट्रीय आन्दोलनमें सफलता प्राप्त करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि कोण अशुद्ध एवं अपूर्ण जचने लगा, जिसमें सामाजिक समताके आदर्शका समावेश नहीं किया गया था। तव सामाजिक विसमता, धार्मिक भेद-भाव और जन्मगत जात-पातका ऊंच-नीच भी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके मार्गमें वाधक प्रतीत होने लगा। अस्पृश्य ठहराये गये अपने ही भाइयों और स्त्रियोंकी दीन, हीन तथा पराधीन अवस्थामें सारे राष्ट्रकी

असहाय अवस्थाकी छाया दीख पड़ने लगी। इस अनुभवने देशमें 'स्वाधीनता-संघ को जन्म दिया, जिसके संस्थापक थे, युवक-सम्राट् पण्डित जवाहरलालजी नेहरू और देशभक्त सुभाषचन्द्र बोस सरीखे महानुभाव। राजनीतिक प्रजातन्त्रके साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक समताको स्थापित करनेकी स्पष्ट घोषणा देशमें पहिली बार ही की गई थी। सब प्रकारकी सामाजिक विषमताको दूर करने और सामाजिक अत्याचारोंसे पीड़ित जनताका उससे उद्धार करनेके लिए जो कार्यक्रम नियत किया गया था उसके कुछ विषय निम्न लिखित थे :—जातपांतको मिटाना, वंश परम्परागत पुरोहितों तथा गुरुओंकी परिपाटीका अन्त करना, परदा-प्रथाको दूर करना, स्त्रियोंके लिये अनिवार्य शिक्षाकी व्यवस्था करना, उनके लिये शारीरिक व्यायामकी सुविधा करना, विधवाओंको पुनर्विवाहके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता देना, स्त्रियोंके लिये पुरुषोंके समान सब अधिकारोंकी घोषणा करना, स्त्री-पुरुषमें असमानता-सूचक वर्तमान कानूनोंका संशोधन या उन्मूलन करना, वहु-विवाह तथा विवाह सम्बन्धी हीनता-सूचक दहेज आदिके सब रीति-रिवाजोंको बन्द करना, विवाह योग्य आयुको बढ़ाना और अन्तर्प्रान्तीय एवं अन्तर्जातीय विवाहोंको उत्तेजना देना। यह संस्था कोई विशेष काम नहीं कर सकी, किन्तु उसकी स्थापना और कार्यक्रमसे समाज-सुधारके कार्य और महिलाओंकी जागृतिके आन्दोलनको विशेष बल प्राप्त हुआ। राजनीतिक आन्दोलनकी तुलनामें उसको गौण समझने वालोंका ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हुआ। देशकी भावना और विचारोंके प्रवाहके रुखका पता भी उससे मिल जाता है।

१९३० के सत्याग्रह आन्दोलनके बाद महात्मा गान्धीकी गिरफ्तारीसे पहिले ऐसा कौन-सा आन्दोलन था, जिसने भारतकी स्त्रियोंको कड़कड़ाती धूपमें, दुधमुंहे बच्चोंको गोदमें ले, शराब और विलायती कपड़ोंकी दूकानों पर धरना देनेके लिये एका-एक बाजारोंमें चलती सड़कों पर ला खड़ा किया ? वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने घरकी मोह-माया एवं ममताके सब बन्धन एक साथ काटकर उनको स्वदेश-प्रेममें उन्मत्त बना दिया। महात्मा गान्धीके दिव्य व्यक्तित्वका केवल एक साधारण-सा संकेत था, जिसने बिना किसी आन्दोलन, प्रदर्शन या हलचलके वह आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाया था। महिलाओंकी यह प्रगति और उनमें इस प्रकार स्वतन्त्रताकी भावनाका जागृत होना गान्धी-युगका सबसे बड़ा चमत्कार है। महात्मा गान्धीने भारतको बहुत कुछ दिया है किन्तु इस चमत्कारके रूपमें जो दिया है, वह उनकी दिव्य विभूतिका अलौकिक दान है, उनकी कठोर तपस्याका महान प्रसाद है और उनके दीर्घकालीन संकल्पका सबसे अधिक स्वादिष्ट फल है। १९३० में कुछ थोड़ी ही स्त्रियां सामने आईं थीं। जेल जानेवाली स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत कम थी। फिर भी उन्होंने अद्भुत वीरता, अपूर्व त्याग और अपार कष्ट-सहनका विलक्षण परिचय दिया था। घर और मन्दिरसे बाहरकी दुनियासे सर्वथा अनभिज्ञ और समाचार-पत्रोंके संसारसे बहुत दूर चूल्हे चौकेके धुंयेके अन्धकारमें भी परदेकी कैदमें रहनेवाली भारतीय महिलाओंकी इस जागृतिने सब संसारको चकित कर दिया। १९३२ में उन्होंने कहीं-कहीं पुरुषोंको भी पछाड़ दिया।

भविष्यमें वे क्या. नहीं कर दिखलायेंगी ? स्वदेशको स्वाधीन, सम्पन्न और उन्नत बनानेमें पुरुषोंसे पीछे नहीं रहेंगी।

इस कथनके समर्थनमें नीचे कुछ बहिनोंके व्यक्तिगत अनुभव दिये जाते हैं, इनसे यह भी मालूम होगा कि किस प्रकार महिलायें परदेकी कैदसे मुक्त होनेके लिये पुरुषोंके संकेतकी प्रतीक्षामें हैं। परदा दूर करनेकी इच्छा रखने वाली बहिनों और भाइयोंके लिये ये अनुभव अवश्य ही कुछ उपयोगी तथा सहायक हो सकेंगे ओर उनमें कुछ साहस तथा स्फूर्ति भी पैदा कर सकेंगे।

(१) नये संसारमें प्रवेश

हजारीबाग (विहार) जिला कांग्रेस-कमेटीकी मन्त्रिणी श्रीमती सरस्वतीदेवीजी बिहारसे जेल जाने वाली सबसे पहिली महिला हैं। वहांके स्त्री शिक्षा, नारी-जागरण और परदा-विरोधी आदि आन्दोलनोंमें आप प्रमुख भाग लेती हैं। अपने प्रान्तके कांग्रेस-कार्य-कर्त्ताओंमें आपकी अच्छी प्रतिष्ठा है। आपने समाज-सुधार और हरिजन-सेवाके क्षेत्रमें भी सराहनीय कार्य किया है। परदा दूर करनेके सम्बन्धमें आपने लिखा है :—

"मेरा नैहर गयाके उस जमीन्दार-वंशमें हैं, जिसमें परदाकी कड़ाई बहुत अधिक है। मकानों और घरोंकी दिवारोंमें एक छोटा-सा छेद भी नहीं बनाया जाता, जिससे कि स्त्रियां कहीं बाहर न झांक लें। जो छेद रहते भी हैं, उनसे यथेष्ट हवा और प्रकाश भी नहीं आ सकता, तब बाहरकी दुनियाके दर्शन क्या किये जा सकते हैं ? बारह वर्षसे अधिक आयुका नौकर जनानखानेमें नहीं

आ-जा सकता। लड़की आठ-दस वर्षकी आयुके बाद अपने पिता, चाचा, बुवा भाई और भतीजोंके सामने नहीं हो सकती। ये सब बातें अब कुछ ढीली हो रही हैं, किन्तु मेरे बचपनके दिनोंमें इनपर कठोरताके साथ आचरण किया जाता था। मेरे पिताजी हजारी बागमें प्रोफेसर थे। इस लिये मेरा जन्म वहा ही हुआ था। माताका देहान्त मेरी सात वर्षकी अवस्थामें हो गया था। मेरे ननिहालमें परदा इतना कठोर न था। इस लिये विवाहसे पहिले मुझसे परदा नहीं करवाया गया, किन्तु विवाहके साथ ही परदेके दुखी जीवनका आरम्भ हो गया। उसको रिवाज मान कर करना पड़ता था, किन्तु मनमें बड़ा असन्तोष और उद्विग्नता बनी रहती थी। धीरे-धीरे वह नष्ट हो गई और सब विचारहीन रिवाजोंको मैं मानने लग गई। सब अन्ध-विश्वासोंने मेरे हृदयको आ घेरा। दिन-पर-दिन अच्छे कपड़ों, कीमती आभूषणों और 'सेण्ट' आदि रखने और पहिननेका शौक भी बढ़ने लगा। गैर-जिम्मेवारीका जीवन था। रुपये-पैसेकी कीमतका कुछ भी पता नहीं था। यह भी मालूम न था कि किस मेहनतसे रुपया-पैसा कमाया जाता है। केवल खर्च करना मैं जानती थी। समाजमें आदर पानेके लिये भी कपड़ों-गहनों आदिकी इच्छा मुझमें बहुत समय तक बनी रही। पहिली सन्तान पैदा होनेके साथ ही चलबसी, दूसरी भी न बच सकी और मैं उसके बाद बहुत सख्त बीमार पड़ गई। इस बीमारीसे मेरे हृदयमें विरक्ति पैदा हो गई। कुछ समय घरके कुछ लोगोंके साथ मैंने एक साधुकी सेवामें बिताया, किन्तु सम्बन्धियोंके विरोध करने पर वहांसे आकर वैद्यनाथ-धाम चली गई। वहां प्रतिदिन पैदल ही मन्दिर आया-जाया करती थी। इससे

परदा कुछ ढीला हुआ। फिर मैं हजारीबाग चली आई। मेरी आयु २७ वर्षकी थी, जब बिहारमें परदा-विरोधी-आन्दोलनका सूत्रपात् हुआ। ८ जुलाई १९२९ को सब बिहारमें परदा-विरोधी-दिवस मनानेका निश्चय हुआ। हजारी बागमें भी उसके लिये व्यवस्था की गई। हम दस स्त्रियां अपना सब साहस और धैर्य बटोर परदेको तिलाञ्जलि दे, उस दिनकी सभामें शामिल हुईं। मैंने उस समय कुछ भाषण भी दिया। उस आन्दोलनको सतत चालू रखनेके लिये उस सभामें 'नारी-समिति' की स्थापना की गई। मुझ पर उसके मन्त्रित्वका कार्य-भार डाला गया। प्रति-सप्ताह उक्त समितिकी ओरसे स्त्री-पुरुषोंकी संयुक्त-सभा की जाने लगी, जिसमें भाषण, विवाद और मैजिक लैण्टर्न पर व्याख्यान होने लगे। यह समिति अब तक भी कायम है। १९२९ में मुझको जिला-बोर्ड-शिक्षा-समितिका सभासद् नियुक्त किया गया जिससे पुरुषोंके साथ बैठ कर काम-काज करनेमें मैंने पहली बार सब जिलेमें भ्रमण किया और कांग्रेसका प्रचार किया। जिला कांग्रेस कमेटीको सभानेत्री होकर मैं जेल गई। मेरे साथ मेरा ७ मासका बालक भी था। १९३२ के आन्दोलन में बीमार रहनेसे मैं पहिले कुछ विशेष भाग न ले सकी, जिसका बिचार मुझको सदा ही बना रहता था। महात्मा गान्धीजीके हरिजन आन्दोलनके लिये जेलमें किये गये पहिले उपवास पर मुझसे न रहा गया। मैं लाठीका सहारा टेक बीमारीके बिस्तरसे उठ खड़ी हुई और हरिजन-आन्दोलनमें लग गई। सामूहिक-भद्र अवज्ञाको बन्द करके जब केवल व्यक्तिगत-भद्र अवज्ञाका आन्दोलन फिरसे जारी किया गया, तब मैं दो बार गिरफ्तार हुई और दस

मास मुझको जेलमें रहना पड़ा। जेलसे छूटनेके बाद मैंने अपनेको हरिजन-सेवाके काममें लगा दिया। कई-एक विधवा-विवाह भी करवाये और समाज-सुधारके अन्य कार्योंमें भी भाग लिया। तबसे दरभंगाके पास मझौलिया गांवमें 'विहार-महिला-विद्यापीठ' स्थापित होनेपर उसके लिये भी मैंने काम करना शुरू किया। उसके बोर्डकी मैं एक ट्रस्टी हूं। बहुत-सी लड़कियोंको विद्याध्ययनके लिये वहां भिजवाया है। नारी जागरणके लिये अपने जिलेके प्राय: सभी गांवोंमें मैंने भ्रमण किया है और घर-घर जाकर परदा-विरोधी-आन्दोलनका सन्देश अपनी बहिनोंको सुनाया है।

'परदा दूर करनेमें जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, उनमें वे तो काल्पनिक हैं जिनका सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत जीवनके साथ है, और वे वास्तविक हैं, घर, परिवार तथा समाज या जातिके लोगोंकी ओरसे पैदा की जाती हैं। अपने संकोच झिझक, लज्जा और समाजमें होनेवाली निन्दाके भय पर विजय प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है, जितना कठिन दूसरोंकी ओरसे पैदा की जानेवाली विघ्न-बाधापर विजय प्राप्त करना है। मेरी जाति और समाजके लोगोंकी ओरसे मेरे भी कई अड़चनें पैदा की गईं। वे जमात बांधकर मुझे समझाने और डराने भी आते थे। पर, मैं अपने निश्चयपर दृढ़ रही। मेरी दृढ़ताके सामने जब उनका बस न चला, तब मेरी निन्दा की जाने लगी, मेरे विरुद्ध शिकायतें होने लगीं और कई बार मेरी भर्त्सना भी की गई। पर मैंने देखा कि जब १९३० में २६ जनवरीको राष्ट्रीय-पताका फहरानेका कार्य मैंने सम्पादन किया, तब वह सब निन्दा, शिकायत भर्त्सना बन्द हो गई। लोग मुझको सम्मानकी

दृष्टिसे देखने लगे। परदा-निवारक-आन्दोलनके विरोधियोंकी ओरसे सर्वसाधारणमें यह भ्रान्त धारणा पैदा कर दी गई थी कि हम स्त्रियां शान-शौकत स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलताके लिये परदा दूर करती हैं। पर, लोगोंने देखा कि परदेसे बाहर आकर हम देशके लिये कष्ट झेलने और त्याग करनेको भी तैयार हैं। तब उनकी यह भ्रान्त धारणा दूर हो गई। जेवरों और रंग-बिरंगी बनारसी साड़ियोंकी जगह जब लोगोंने हमको मोटी खादी पहिने देखा, तब उनकी आंखें खुल गईं। सब विरोध अपने आप दब गया।

"परदा दूर करनेपर जीवनमें जिम्मेवारीका भाव पैदा हो गया है। संसारमें जन्म लेनेका कुछ अर्थ मालूम होने लगा है। ऐसा अनुभव होता है कि बाहरी दो आखोंके साथ भीतर कोई आंख भी खुल गई हैं। मनमें बल और आत्मामें विश्वास पैदा हो गया है। पहिले सौन्दर्य जेवरों, कीमती कपड़ों और साज-सजावटके अन्य सामानमें दीख पड़ता था, अब अपने भीतर हृदयकी शान्तिमें और बाहर तन्दुरुस्ती तथा खादीमें उसको प्रतीति होने लग गई है। मेरा यह जीवन और उसके बारेमें मेरे सब विचार, भावना तथा कल्पना बिलकुल बदल गई हैं। अपनी बहिनोंसे मेरा यह निवेदन है कि वे किसी न किसी यत्नसे परदा अवश्य दूर करें। उसके बाद स्वयं ही उनके दिल तथा दिमागका विकास होता चला जायगा और अनुभव होने लगेगा कि वे किसी नये संसारमें प्रवेश कर रही हैं।"

(२) मनुष्यताकी प्राप्ति

बरार-प्रान्तीय-कांग्रेस-कमेटीके अध्यक्ष, माहेश्वरी-महासभा के सभापति और मारवाड़ी-समाजके सुप्रसिद्ध नेता श्री बृजलालजी बियाणीकी धर्मपत्नी श्री सावित्री देवीजी अपने वक्तव्यमें लिखती हैं—

"ग्यारह वर्षकी आयुमें मेरा विवाह हुआ था। विवाहसे पहिले मेरी किसी भी प्रकारकी कुछ भी पढ़ाई नहीं हुई थी। उस समय राजस्थानमें बालिकाओंकी पढ़ाईकी ओर ध्यान नहीं गया था। विवाहके साथ परदे या घूंघटका करना आरम्भ हो गया। विवाहके आनन्दमें परदेका आरम्भ मुझको दुःखदायी प्रतीत नहीं हुआ। सभी स्त्रियां परदा करती थीं। लड़कपनकी अवस्था होने पर भी मेरा विवाह हो जानेसे मैं भी स्त्रियोंमें शामिल करदी गई थी। इस लिये भी वह परिवर्तन कुछ अखरा नहीं। धीरे-धीरे घूंघटकी आदत हो गई और वह मेरा स्वभाव बन गया। मेरे विवाहके समय श्री बियाणीजी अङ्गरेजीकी तीसरी कक्षामें पढ़ते थे। उस समय उनको भी अपने आजके स्वतन्त्रता तथा सुधारोंके विचारोंको कुछ कल्पना नहीं थी। विवाहके समय सभी प्रचलित पुरानी रूढ़ियोंका पालन किया गया। मैं यदि घूंघटमें थी तो श्रीबियाणीजी बागा आदिसे सुभूषित थे। उस अतीतकी सब स्मृति अब आनन्द और कुतूहलका विषय है। मैट्रिक पास करनेके बाद उनका कुछ ध्यान मेरी पढ़ाईकी ओर गया। गरमीकी छुट्टियोंमें उन्होंने स्वयं मुझको पढ़ाना शुरू किया। मेरे श्वसुर, जेठ और जिठानी आदि सब पुराने

विचारोंके थे, किन्तु थे सहिष्णु। तो भी दिनमें परस्पर मिलना या बात करना संभव नहीं था। इसलिये प्रायः रातको ही पढ़ाई हुआ करती थी। १९२० में असहयोग-आन्दोलनमें श्री वियाणीजीके कालेजकी (वकालतकी) पढ़ाई छोड़ कर अकोलामें स्वतन्त्र जीवन प्रारम्भ करने तक मेरे जीवनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मेरा कपड़ा, मेरा गहना, मेरा वेश-भूषा सब पुराने ढङ्गका बना रहा और साथमें घूंघट भी कायम रहा। सुधार या परिवर्तनकी चर्चा बराबर होती रही और मेरे मन पर उसका प्रभाव पड़ता रहा।

पन्द्रह वर्ष पूर्व हम दोनोंके स्वतन्त्र जीवनका आरम्भ हुआ। श्रीवियाणीजीके विचार समाज-सुधारके कार्यमें परिणित होने लगे। महाराष्ट्रीय और गुजराती बहिनोंके साथ मैं मिलने-जुलने लगी। मेरे विचार दृढ़ होने लगे और उनके अनुसार कार्य करनेकी इच्छा पैदा हुई। वेश-भूषामें परिवर्तन आरम्भ किया। घाघरा त्याग कर साड़ी और ओढ़नीसे काम चलाया, पैरोंके गहने उतार दिये, नवीन पद्धतिसे केश संवारना शुरू किया, दूसरे गहने भी छोड़ दिये, चप्पल पहिनना शुरू किया— बादमें ओढ़नी भी छोड़ दी। इन सब परिवर्तन पर टीका-टिप्पणी होने लगी, समाजमें उसकी चर्चा होने लगी और परिचय की बूढ़ी स्त्रियां कभी प्रेमसे कभी नाराजीसे और कभी कटुतासे मुझे समझातीं और उलाहना भी देतीं। मै कभी किसी पर कुपित नहीं हुई। सब चर्चा, टीका-टिप्पणी और व्याख्यान तथा उलहने शान्तिसे सुन लेती। कभी-कभी मुस्कुराकर कह देती—"माँजी! सब जमाना पलट रहा है, उसके साथ चलना अच्छा है।' अपने इस व्यवहारके कारण

मुझको कभी किसी कष्ट-क्लेश या विरोधका सामना नहीं करना पड़ा ; किन्तु बूढ़ी स्त्रियोंका मुझपर सदा प्रेम बना रहा और अब भी है। घूंघटकी लम्बाई भी धीरे-धीरे कम होने लगी। घरमें आनेवाले श्री बियाणीजीके मित्रोंसे भय हटता चला गया, किन्तु एकान्तमें बना रहा। धामनगावमें माहेश्वरी-महासभामें पहिली वार गई। वहां 'राजस्थानी नवजीवन मंडलका परदा-विरोधी-मण्डल भी आया हुआ था, जो परदेके विरोधमें सारे देशका दौरा करता था। वहां परदा न करनेवाली बहिनोंके सहयोग, महासभाके वातावरण, समाज-सुधारकी निरन्तर चर्चासे मेरे दिलको विशेष बल मिला और मैंने सदाके लिये अपनेको घूंघटसे मुक्त करनेका निश्चय कर लिया। पण्डालमें स्त्रियोंके लिये परदे के भीतर अलग बैठनेकी व्यवस्था की गई थी। उसका विरोध होनेपर मैंने खड़ी होकर उस परदेको खोल दिया। उस परदेके साथ मेरा संकोच और परदा भी दूर हो गया। युवक-परिषदमें एक प्रस्तावका मैंने समर्थन किया और महिला-परिषदकी कार्य-वाहीमें भी भाग लिया। मैं समझती हूं कि उसी दिनसे मेरी मनुष्यताका आरम्भ हुआ है। घूंघटके साथ भय गया, संकोच गया, कुछ अंशोंमें निर्बल मनोविकारोंसे पिंड छुटा, जीवनमें नया आनन्द अनुभव होने लगा, घरका सब वातावरण भी बदल गया और मैंने घरमें 'दासी' की जगह स्वामिनी का पद प्राप्त किया।

"इसके बाद पहिली वार अपने श्वसुरके यहां जानेमें मुझको कुछ संकोच हुआ। दिलको कड़ा करके उस अवसरको निभा लिया। फिर वहां जानेमें कोई कष्ट या संकोच नहीं रहा। दूसरा वैसा ही अवसर तब आया जब मैं बियाणीजीके साथ अपनी मां

के यहां गई। तब भी मैंने दृढ़ताका परिचय दिया। वहां श्री वियाणीजीके साथ मैंने अपना घरका-सा व्यवहार किया। रसोईमें पास बैठकर उनको भोजन परोसना भी मारवाड़की बहिनोंके लिये कुतूहलका विषय था। वे बड़ी कौतुककी दृष्टिसे हम दोनोंको देखने आती थीं। श्री वियाणीजीका घरवालोंपर तथा समाजमें जो नैतिक प्रभाव है, उसके कारण भी मुझको कभी विशेष कष्टका सामना नहीं करना पड़ा, अपितु अनुकूल परिस्थिति तथा सुविधा ही मिलती गई। मेरा सब रहन-सहन बदल गया। साड़ीसे सब काम चल जाता है। गहनोंका भार अब नहीं ढोना पड़ता। जीवनमें वह आनन्द अनुभव होता है, जिनकी पहिले कभी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थीं।

"परदा दूर करनेके बाद मैं कोई विशेष सामाजिक या राष्ट्रीय सेवा नहीं कर सकी हूं। इसका कारण मेरी शिक्षाकी कमी है। फिर भी गत राष्ट्रीय आन्दोलनमें शराब तथा विदेशी वस्त्रके पिकेटिंगमें मैंने विशेष भाग लिया था। यथासम्भव सामाजिक आन्दोलनोंमें भाग लेती हूं। अपने समाजकी महिला परिषद्का कुछ भार मुझ पर रहा है। अकोलामें परदा-विरोधी-दिवस मनाने तथा परदा निवारक-आन्दोलनको सफल बनानेमें भी कुछ हिस्सा लिया है और बराबर लेती हूं। बाजारमें और बाहर घूमनेके लिये अकेले जानेमें कोई भय या संकोच अब नहीं रहा। घरमें बालकोंके लिये भी अधिक शुद्ध और पवित्र वातावरण बन गया है। परदेके कारण बालकोंके सात्विक हृदयोंमें हमारे व्यवहारसे हमारे प्रति माता-पिताकी अपेक्षा पति-पत्नीका भाव ही अधिक रहता है, जो इष्ट और वांछनीय नहीं है।

"मेरे लिये परदा दूर करना अति हितकर हुआ है। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि कोई भी बहिन परदेके भीतर न रहे। जितनी जल्दी उसको दूर किया जा सकेगा, उतनी ही जल्दी हमारा उत्थान हो सकेगा। स्त्रियोंके उत्थानके साथ समाजके अभ्युदयके लिये भी उसको जल्दीसे जल्दी दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। बहिनोंको स्वयं इस कुप्रथासे अपनेको मुक्त करना चाहिये। हमको अपना उद्धार अपने आप ही करना चाहिये। उसके लिये दूसरों पर निर्भर रहना उचित नहीं है।"

(३) छोटी 'सैल' से बड़ी 'सैल' में

श्रीमती कैलास कुमारी देवीजी श्रीवास्तव हाजीपुर-नगर-कांग्रेस कमेटीकी सदस्या हैं। आपने पहिले कलकत्ता (बड़ाबाजार) के सार्वजनिक जीवनमे अच्छा भाग लिया था। आजकल हाजीपुर में काम कर रही हैं। आपकी परदा छोड़नेकी कहानी बहुत दिलचस्प है। आपने लिखा है :—

"मेरे पिताजी परदेके इतने अधिक समर्थक नहीं थे। इसलिये जहां दूसरे परिवारोंमें वहू अपनी सास, ससुर तथा जेठके सामने नहीं आ सकती थी, वहा हमारे यहां इतनी कठोरता नहीं थी। पर तो भी बाहरकी दुनियाका हमको कुछ भी पता न था। पटनामें रहने पर भी मैने पटमा शहर नहीं देखा था। मेरा विवाह जिनसे होना ठीक हुआ, वे विवाहसे पहिले मुझको देखना चाहते थे। यह बड़ी विचित्र बात थी, जिसको लेकर घरमें बड़ा गोलमाल मचा। भाईको छोड़कर कोई और उसके लिये तैयार न हुआ। जब मुझसे पूछा गया तब मैं जमीनमें गड़ी

जाती थी। दूसरा कोई उपाय न देखकर घरके सब लोग उसके लिये राजी हो गये। मुझको दूसरे घर ले जाया गया। मेरे साथ मेरी भाभी और माताजी भी थीं। दर्शन हुए, बातें हुईं और शादी भी दो ही मासमें हो गयी। मेरे पति कलकत्ता रहते थे। कलकत्ताके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें सुनी हुई थीं। वहां जानेको दिल ललचाया करता था। पर, विवाहके बाद कलकत्ता देखनेके बदले जो कष्ट झेलने पड़े, उनकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। पहिले तो पतिगृहमें बंदी-जीवन बिताना पड़ा। पर, बादमें वास्तविक बंदी-जीवनका अनुभव मिलनेपर पता चला कि पति-गृहका वह जीवन बंदी-जीवनसे भी कहीं अधिक गया बीता था। उसको छोटी 'सैल' (अन्धकारपूर्ण काल कोठरी) का जीवन कहना अधिक ठीक होगा। वहां स्त्रियोंके सामने भी उस कोठरीसे बाहर आना गुनाह था। एक दिन मेरे ही अनजानेमें वह गुनाह हो गया। मेरी सासने जो परदा दूर करनेमें मुझसे भी दो कदम आगे हैं, तब दो दिन भोजन नहीं किया और मेरी बेपरदगीपर बराबर रोती रहीं। मैं देवता-घरके एक कोनेमें दिन-भर पड़ी रहती थी। पैखाना आदिके लिये जानेपर आंगनमें परदा तान दिया जाता था, जिसकी ओटमें मैं इधर-उधर आ जा सकती थी। श्वसुर-गृहके इस कठोर व्यवहारसे तंग आकर मैंने कलकत्ता बुला लेनेको पतिसे आग्रह किया। मेरी प्रार्थना स्वीकार की गई। माता (सास) जी भी साथ कलकत्ता गईं। हम दोनोंको वहां पहुंचानेके लिये साथमें मेरे देवर गये। हम लोग वहां एक खुले मकानमें रहे। माताजीकी दृष्टिमे वह बे-परदेका मकान था। इसलिये वहां पहुंचनेपर सबसे परिले परदेकी व्यवस्था करनेमें

लगीं। कभी कहीं बोरा टांगती, तो कहीं कागज लगातीं और कहीं कपड़ा तानतीं। वहांको बे-परदगीके मारे उनका नाकों दम था। उनके इस कार्यसे हम दोनों सहमत नहीं थे। इसलिये हमारे सहयोगके विना ही वे अपने उस उद्योगमें लीन रहती थीं।

"मेरे आग्रहपर एक दिन कलकत्ताकी सैर करनेका कार्यक्रम बना। माताजी भी साथ थीं। जनवरीका महीना था और १६३१ का साल। हम लोग एक ऐसी जगह पहुंचे, जहांका दृश्य देखकर मैं सहसा कांप उठी। मैंने उसकी कल्पना भी न की थी। कालीजीका मन्दिर, चिड़िया घर और अजायब घर आदिकी जगह देखना पड़ा। बहुत-सी महिलाओंको फौजी सिपाहियोंके सामने खड़े हुए देखा। पतिने कहा—"देखो, कलकत्तेका सबसे बड़ा तीर्थ स्थान यही है। पहिले इन देवियोंका दर्शन करो, जो देशके लिये मरनेको कमर कसकर यहां पिकेटिंग करने आयी हैं।" गांधीजीके बारेमें बहुत कुछ सुना था, पर, 'पिकेटिंग' का पता उस दिन चला और उसी दिन स्त्रियोंकी बहादुरीका वह दृश्य देखनेको मिला। वह दृश्य आज भी आंखोंके सामने बना हुआ है। हम लोग वह सब देखनेको एक दुकानपर आ बैठे। एक बहिनने आकर मुझसे मेरा नाम पूछा। अपना नाम कैसे बताती? आज तक तो किसीको बताया न था। मैं सिर नीचा करके चुप रह गई। पतिसे उसने हमारा नाम-धाम सब पूछ लिया। उस दिनकी बात-चीत और उस बहिनके प्रेमने भी मेरे दिलपर बड़ा गहरा असर किया। घर लौटकर रात हुए तक और रातको बिस्तरपर लेट जानेके बाद भी मेरे सामने वह सब दृश्य नाचता रहा और उस बहिनकी वह बात-चीत मेरे हृदयमें गूंजती रही। दूसरे दिन

उठते ही मैंने फिर वहां जानेका आग्रह किया। माताजी नाराज हो गईं। उनके लिये वह बेपरदगी असह्य थी। वे आश्चर्य करती थीं कि औरतें इतनी बेशर्म कैसे हो सकती हैं? माताजीकी नाराजगीकी परवाह न कर हम दोनों घरसे निकल पड़े। पता चला कि आज पिकेटिंग न होकर जलूस निकलेगा। जलूसको खोजते हुए उसको धर्मतल्ला आ पकड़ा। मुझको जलूसमें छोड़ कर पति आफिस चले गये। सबके साथ मैं भी गिरफ्तार कर ली गई और लोरी पर सवार कर लालबाजार-थाना पहुंचाई गई। श्वसुर-गृहकी छोटी 'सैल' के बाद आज बड़ी 'सैल' में आई, तो आंखे खुल गईं। खुली हुई आंखों पर से परदा हटे तो कुछ दिन हो गये थे, पर आज हृदयकी आंखें भी खुल गईं। एक क्षणमें सब भय दूर हो गया और सब कठिनाइयां भाग गईं। साथमें जो बहिनें थीं, उनका उत्साह देखकर मैं दंग रह गई। देश प्रेममें उन्मत्त बहिनोंकी छूत मुझको भी लग गई। पर, चार घण्टा बाद ही हम सब छोड़ दी गईं। थानेके बाहर सड़क पर आकर घर पहुं-ना मेरे लिये असम्भव था। न रास्तेका कुछ पता था और न घरका नम्बर ही मालूम था। किसी तरह बहिन लक्ष्मीदेवी शर्माने मुझको घर पहुंचाया और दूसरे दिन मनोहरदासके कटरेमें, जहां पिकेटिङ्ग होती थी, मुझसे मिलनेका वायदा ले लिया।

"घर पहुंच कर देखा तो घरमें रसोई नहीं बनी थी। माताजी रो रही थीं, मेरी गिरफ्तारी और कष्टके लिये नहीं, किन्तु घरकी इज्जत धूलमें मिल जाने और बहूकी बेशर्मी तथा बेपरदगी पर। वह भी कैसा विचित्र दृश्य था। १५ वर्षकी लड़की ५० वर्षकी बूढ़ी

रास्तेमें गाती हुई मारवाड़ी महिलाओंका दल ।

सासको समझा रही थी और सान्त्वना दे रही थी। पर, मेरी वह सब चेष्टा व्यर्थ ही साबित हुई। पतिकी अनुकूलता होनेसे सासकी प्रतिकूलता पर मैंने ध्यान नहीं दिया और गान्धीजीकी फौजमें भरती हो गई। मैंने दूसरी दुनियांमें प्रवेश कर लिया। कुछ दिन पहिले सिपाही तो क्या एक साधारण पुरुषको देखकर भी जो हृदय कांप उठता था, वह इतना निर्भय बन गया कि मैं फौजी सिपाहीके मुकाबलेमें खड़ी होकर कलकत्ताकी सड़कोंपर पिकेटिंग करने लगी। एक दिन पकड़ी गई और चार मासके लिये जेल भेज दी गई। कचहरीमें माताजी और पतिके दर्शन हुए। माताजी अश्रुपूर्ण नेत्रोंमें थीं और मैं बिलकुल निडर और निठुर होकर जेल जा रही थी। उस समय न मालूम कौन-सी आश्चर्यजनक शक्ति मेरे अन्दर कहांसे पैदा हो गई? माताजी जेलमें मिलनेके लिये आती रहीं। जेलसे छूट कर आनेके बाद पहिला काम माताजीको ही अपने अनुकूल बनानेका किया। घरसे और सारे ही परिवारसे परदा दूर हो गया। माताजी देशसेवाके मैदानमें अब मुझसे भी आगे हैं, गाव-गांवमें घूमकर कांग्रेसका काम करती हैं और जेल भी हो आई हैं।

'परदेके जीवनपर अब हंसी आती है। दूसरी बहिनोंको परदेमें देखकर बड़ी ग्लानि और दुःख होता है। मैं अपने अनुभवसे ऐसा कह सकती हूं कि बड़ों-बूढ़ोंका नाम लेना कोरा बहाना है। केवल सच्चे लगनकी जरूरत है। नवयुवक भी अपनी कमजोरीको स्त्रियोंके नामसे छिपानेका झूठा यत्न करते हैं। यदि बहिनें थोड़ा-सा साहस दिखावें और भाई उनके सहायक होगें. तो बातकी बातमें परदेकी कुप्रथा इस देशसे दूर हो सकती है।"

४—नया-जीवन

नागपुरके सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता, दृढ़ समाज-सुधारक, कांग्रेस भक्त और ओसवाल-समाजके अग्रणीय श्रीयुत सेठ पूनमचन्दजी रांकाकी सहधर्मिणी सौभाग्यवती धनवतीजी रांकाने बताया है कि परदा छोड़नेके बाद उन्होंने नया-जीवन किस प्रकार प्राप्त किया है ?—इस प्रश्नका उत्तर उनके ही शब्दोंमें पढ़िये :—

"ओसवाल-समाजमें अन्य राजस्थानी-समाजोंकी अपेक्षा परदा अधिक कठोर है। कुछ लोगोंमें तो उसकी कठोरता पराकाष्ठाको पहुंच गई है। उनमेंसे एक रांका गोत्र है। इसलिये विवाहके बाद मुझको डवल परदा करना पड़ा। घाघरा, वह भी बहुत भारी, उस पर फेंटचा, ऊपर ओढ़नी, उस पर एक और चादर—यह परदेकी साधारण मर्यादा थी, जिसमें भी घरसे बाहर बन्द गाड़ीमें जाना पड़ता था। शिक्षा कुछ भी न होनेके कारण संसारका ज्ञान भी कुछ न था। विवाहके एक वर्ष बाद १९२० में कांग्रेसका अधिवेशन था। मैं घरमें से परदेकी आड़से कांग्रेसकी धूमधामके कुछ प्रदर्शन देखा करती थी। स्त्रियोंको पुरुषोंके साथ घूमते हुए और सभाओंमें जाते-आते देखनेका मेरे लिये वह पहिला ही अवसर था। विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार, खादी-प्रचार आदिकी भनक भी कानोंमें पड़ने लगी। घरमें कुछ मेहमान ठहरे थे। उनके जीवनसे भी कुछ अनुभव मिला। कांग्रेसके उस अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष श्रीयुत सेठ जमनालालजी बजाजका परिवार हमारा मेहमान था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जानकीदेवीजी बजाज उस समय कुछ

परदा करती थीं, किन्तु उनका वेश-भूषा आभूषण-रहित बहुत सादा था। कांग्रेसके बाद घरमें स्वदेशी और खादीकी चर्चा होने लगी। श्रीरांकाजीके समझाने और यत्न करने पर भी घरमें सिवा उनके किसी और ने विदेशी वस्त्र नहीं छोड़ा। मेरी ननद और मैं उसके बाद भी तीन वर्ष तक विदेशी वस्त्र पहनती रहीं। सन् १९२३ में नागपुरमें राष्ट्रीय-झण्डेकी मान-रक्षाके लिये सत्याग्रह हुआ। मेरे पति उसमें तल्लीन हो गये। हमारा घर उसका केन्द्र था। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और सत्याग्रही नेताओंकी बहुत सी सभायें हमारे यहां हुआ करती थीं। उनके विश्रामके लिये तो हमारा घर उन दिनोंमें राष्ट्रीय धर्मशाला बना हुआ था। महात्मा भगवानदीनजी, पं० सुन्दरलालजी, श्रीयुत जमनालालजी बजाज, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, श्रीमती जानकीदेवी बजाज, श्रीमती सुभद्राकुमारीजी आदिके स्नेहपूर्ण सहवाससे और सैकड़ों नवयुवकों को सहर्ष जेल जाते देख मुझे विदेशी वस्त्रोंके लिये लज्जा प्रतीत होने लगी। विदेशी वस्त्रोंका पूर्ण परित्याग कर खादीको अपनाया, किन्तु वेश-भूषाके रंग-ढंगमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। परदे की कठोरता वैसी ही कायम रही। उसके बाद मेरे पति तथा उनके मित्रोंने परदा छोड़ने और सार्वजनिक कार्योंमें भाग लेनेके लिये बहुत प्रेरणाकी। बहुत हिम्मत करके मैंने स्त्रियोंकी सभामें जाना शुरू किया। एक दिन झण्डा-अभिवादनमें भी शामिल हुई। घरमें संग्राम मच गया। मेरी सास, ननद, जेठानी आदिने मुझको फटकारना शुरू किया और समाजमें भी चारों ओर निन्दात्मक चर्चा होने लगी। मेरा हौसला टूट गया। दिलमें इच्छा होने पर भी जन्मके संस्कार, जातिके रिवाज, समाजकी रूढ़ि, परम्परागत

प्रथा और घरवालोंकी नाराजगीके कारण मैं आगे बढ़ न सकी। आभूषणोंका त्याग न कर सकी और परदा भी पुराने रूपमें बना रहा।

सन् १९२७ में जब जनरल अवारीने शस्त्र-सत्याग्रह शुरू किया, तब हमारे घरमें और चारों ओर फिर झण्डा-सत्याग्रहके दिनोंका-सा वातावरण पैदा हो गया। उसके प्रभावसे मैं न बच सकी। गहना, घाघरा, ओढ़नी आदिकी रूढ़िका वेश त्याग कर मैंने साड़ी और पोलकेको अपनाया। कांग्रेसके कार्यकर्ताओं और घरमें आने-जाने वालोंसे बात-चीत शुरू की। श्री सत्यदेव विद्यालंकार और श्रीमती सुभद्रादेवीके सहवासका भी कुछ लाभ मिला। पर, परदेका संकोच बना ही रहा। १९३० के प्रचण्ड-आन्दोलनके शुरू हो जाने पर भी मेरा परदा दूर न हुआ। २१ जुलाई १९३० को मेरे पति गिरफ्तार हुए। २२ जुलाईको सवेरे राष्ट्रीय काम करने वाले भाई-बहिनोंने मेरा घर आ घेरा और सास तथा जेठानीके सामने ही बहिने मेरा हाथ पकड़, घूंघट हटा, जुलुसमें घसीट ले गईं। बस, बिना किसी प्रयासके उस दिन मुझको परदा-प्रथासे मुक्ति मिल गई, मुझमें अपूर्व जागृतिका सहजमें संचार हो गया, मैंने एकाएक नया जीवन प्राप्त कर लिया और सार्वजनिक सभाओं में बिना संकोच आना-जाना शुरू किया। घर वालोंका विरोध भी मिट गया। आन्दोलनके बन्द होने पर करांची-कांग्रेसके बाद कलकत्तामें मेरे देवर श्री आसकरणका विवाह श्रीयुत सरदार-सिंहजीकी सुपुत्री सौभाग्यवती श्रीमती देवीके साथ बिना परदेके, बड़ी सादगीके साथ पूर्ण खादीमय हुआ। समाजमें उसकी बड़ी चर्चा हुई। अपने ढंगका और बिना परदेका ओसवाल-समाजमें वह पहिला ही विवाह था।

"परदा त्यागनेके बाद मैंने जो नया-जीवन प्राप्त किया, उसमें मुझको निम्नलिखित विशेषतायें अनुभव हुईं—

(१) जेवरोंके झंझटसे छुट्टी मिली। गढ़ाई-बनाईका खर्च बचा। उनकी देख-भाल और संभाल करनेकी चिन्ता मिटी। सिर परसे एक भारी बोझ उतर गया।

(२) शुद्ध खादीके व्यवहारसे जीवनमें सादगी, पवित्रता और सात्विकताका अनुभव हुआ। विदेशी-वस्त्रोंमें होने वाला खर्च भी बचा।

(३) कौटुम्बिक कार्य और अतिथियोंकी सेवा-सुश्रूषा करनेमें सुभीता हो गया और आनन्द अनुभव होने लगा।

(४) सिर पर बोर बांधनेसे सदा सिरमें पीड़ा होती रहती थी, पुराने वेश-भूषासे और भी कष्ट रहता था, वह सब दूर हो गया। शरीर स्वस्थ प्रतीत होने लगा और चेहरे पर रौशनी आ गई। नये जीवनके साथ नया स्वास्थ्य भी मिला।

(५) अब अकेले प्रवास करनेका साहस भी हो गया। मुसा-फिरी करनेमें अब कोई कष्ट नहीं होता।

(६) संसारका कुछ अनुभव मिलने लगा। सच्चे साधु, सन्त महात्मा अर्थात् राष्ट्र सेवकोंके सत्संग और उनके उपदेशोंका लाभ प्राप्त होने लगा।

(७) स्वजनों, मित्रों या बाहरसे कोई सन्देश लेकर आने वालोंकी दिक्कत भी दूर हो गई। पतिकी अनुपस्थितिमें उनका बहुत-सा काम अब मैं निपटा लेती हूं। आने-जाने वालोंसे निःसं-कोच हो, अच्छी तरह बात-चीत कर उनका सब मतलब समझ लेती हूं।

"सब बहिनोंसे मेरी यह आग्रहपूर्ण प्रार्थना है कि वे भी परदा-प्रथासे मुक्ति प्राप्त कर मेरे समान नया जीवन प्राप्त करें, जो इस जीवनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और सुभीतेका है।"

(५) रोगी जीवनका अन्त

स्वर्गीय श्रीमती चन्द्रावतीजी शर्मा विहार-प्रान्तकी यशस्वी राष्ट्रीय कार्यकर्त्री थीं। अपने अनुभव लिख भेजनेके बाद इस पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पहिले ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपकी सुयोग्यता और सुशीला बहू श्रीमती मनोरमादेवीजी शर्मा भी परदा-प्रथाका त्याग कर अहोरात्र कांग्रेसके कार्यमें लगी रहती हैं। परदा करते हुए श्रीमती चन्द्रावतीजीका जीवन रोगोंका घर बना हुआ था उससे मुक्ति पानेके बाद आपको रोगोंसे भी मुक्ति मिल गई। आपने अपने वक्तव्यमें अपना निम्नलिखित अनुभव लिखा था!—

"मेरी अवस्था इस समय ५१ वर्षकी है। मेरे पिताजीने तिलक-दहेज, नाच-गान आदिमें पांच हजार रुपया खर्च करके एक कुलीन घरमें मेरा विवाह किया था। कठोर परदा कुलीनताका प्रधान चिन्ह समझा जाता था इस लिये विवाहके बाद कठोर परदेका कुलीन जीवन प्रारम्भ हो गया। घरके मरदाने हिस्सेमें जाना-आना और जनाने हिस्सेके आंगन या बरामदेमें भी निकलना या घूमना दिन क्या रातमें भी सम्भव नहीं था। जनाने कमरोंके सामने परदा टंगा रहता था। वर्षों तक खुली हवा और सूर्यका दर्शन नहीं मिला। उस समयके ३०—४० वर्ष बाद आज भी बिहारमें मेरे सरीखी असूर्यम्पश्या कुलीन बहिनोंकी

संख्या कुछ कम नहीं है। सासके पास घूंघटमें ही रहना पड़ता था, उनसे इतनी धीमी आवाजमें बात करनी पड़ती थी कि कोई दूसरा सुन न ले, किसी औरके पास न होने पर भी दो-चार हाथसे आवाज अधिक दूरी पर नहीं जानी चाहिये थी। उस वन्दी जीवनमें गठिया आदि रोगोंसे ग्रस्त हो जाने पर मुझको मेरे नैहर भेज दिया गया। वहां आंगन वरामदे और छत पर निकलने और घूमनेकी कुछ स्वतन्त्रता थी। धूप और वायु के खुले सेवनसे गठिया आदिकी शिकायतें विना किसी विशेष दवाके दूर हो गईं, किन्तु अनेक वर्षों तक मैं उनका शिकार वनी रही। स्वस्थ होकर कुछ वर्ष वाद जब मैं ससुराल आई, तव मेरी सास और श्वसुर दोनोंका देहान्त हो चुका था। पतिदेव कुछ खुले विचारोंके थे और मेरी वीमारी भी देख चुके थे। इस लिये घरके आंगनमें घूमने और धूप तथा हवा सेवनेकी स्वतन्त्रता मिल गई। गयामें कांग्रेसके अधिवेशन पर गई। परदेको मैं वैसे भी शारीरिक और मानसिक उन्नतिके लिये घातक समझने लग गई थी, इसलिये कांग्रेसके वातावरणका मेरे मन पर ऐसा अनुकूल प्रभाव पड़ा कि वहां मैंने परदेको सदाके लिये तिलाजली दे दी। ग्रामके और अधिकतर सनातनी लोगोंने विरोध किया, पर पतिकी अनुकूलता और मेरे दृढ़ताके कारण वह टिक नहीं सका।

"अब मैं स्वतन्त्र हूं, स्वस्थ व प्रसन्न हूं। पहिले आभूषणों और कीमती कपड़ोंके कारण सदा चोरोंका भय वना रहता था अव विलकुल निर्भय जहां-तहां विचरती हूं। १९३२ में तीन मासके लिये श्रीकृष्ण-मन्दिरमें भी रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। मान-प्रतिष्ठा के सम्बन्धमें सव विचार वदल गये। जीवनका

दृष्टिकोण कुछ और ही बन गया। अब मुझको अपने प्रति कहीं अधिक सुख, सन्तोष, शान्ति और समाधान अनुभव होने लगा। बहिनोंसे मेरा यह निवेदन है कि इस नाशकारी प्रथासे शीघ्रसे-शीघ्र मुक्ति लाभ करनेका यत्न करें।"

(६) तंग, कठोर और भयानक कारागारसे मुक्ति

कलकत्ताकी सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मिणी श्रीमती सज्जनदेवीजी जितनी सज्जन हैं, उससे अधिक बहादुर हैं। आपने १९३० और १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलनोंमें विशेष बहादुरीका परिचय देकर कलकत्ता-वासियोंको आश्चर्यचकित कर दिया था। परदा दूर करनेके सम्बन्धमें आप लिखती हैं कि—

"हमारे समाजमे परदा इतना कठोर है कि दोनों ओर दो औरतें चादर तान लेती हैं, तो उनके बीचमें कपड़ेमें लिपट कर गठरी बनी हुई घरकी स्त्रियां कहीं आ जा सकती हैं। विवाह होनेके साथ ही यह कठोर प्रतिबन्ध शुरू होता है। इसलिये अपनेको उसके अनुकूल बनाने तक बड़ा कष्ट मालूम होता है। कई बार रोना भी आता है और पितृ-गृहकी आजादीके बाद पति-गृहका यह परिवर्तन बुरी तरह अखरता है। इसलिये मन उचाट हो जाता है। पर, चारों ओर वही हाल और दूसरी कोई गति न देख कर कुछ-कुछ सान्त्वना मिलने लगती है। धीरे-धीरे उसका अभ्यास भी हो जाता है। मेरे पति श्रीसरदारसिंहजी का झुकाव प्रारम्भसे ही समाज सुधारकी ओर था। इसलिये समाज-सुधारके सम्बन्धमें आपसमें कई बार चर्चा होती और बहुत कुछ करनेकी इच्छा भी होती, पर करनेका साहस नहीं होता था। परदा तो नहीं छोड़ा था, किन्तु चादर छोड़कर उस

ओर पहिला ही पग उठाया था कि समाजमें चर्चा शुरू हो गई। कुछ प्रतिष्ठा होनेसे सामने कोई बोलता न था, किन्तु वैसे निन्दात्मक आलोचनाका बाजार बड़ा गरम था जैसे जैसे हमारी आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई, वह आलोचना बढ़ती गई। पर उसपर कुछ ध्यान न देकर हम दोनों अपने कर्तव्य कर्ममें दृढ़ रहे। घरमें हिन्दीके प्रायः सभी मासिक पत्र आते थे। उनमें जागृत तथा शिक्षित बहिनोंके चरित्र एवं चित्र देखकर अपने जीवनसे घृणा और उनका अनुकरण करनेकी लालसा पैदा होती थी। यह सन्दिग्ध अवस्था कई वर्षों तक बनी रही और घूंघट भी ज्योंका ज्यों बना रहा।

"१९३० में देशमें स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके आन्दोलनने जोर पकड़ा। श्रीसरदारजी नौकरीके कारण विवश थे। पर मैं उस दृष्टिसे स्वतन्त्र थी। मुझको राष्ट्रीय कार्य करनेकी आज्ञा सहजमें मिल गई और साथ देनेवाली दो चार बहिनोंको खोजनेमें भी कुछ अधिक समय या श्रम नहीं लगा। परदा छोड़नेके पहिले ही दिन बड़ा बाजारमें आकर विदेशी वस्त्रोंकी दूकान पर पिकेटिंग किया। यह कहना अधिक सगत होगा कि पिकेटिंगके लिये ही परदेको तिलांजलि दी। इस प्रकार परदा जब छूटा, तब एकाएक छूटा। हृदयकी अपनी कमजोरीके सिवा किसी और विशेष कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ा। रिश्तेदारोंका कुछ कोप जरूर रहा, परन्तु धीरे-धीरे वह प्रेम और कृपामें परिणत हो गया। जिस विरोध निन्दा और आलोचनाका बहुत बड़ा भय सदा सामने बना रहता था, वह छायासे भी अधिक झूठा साबित हुआ। वैसी सब कठिनाइयां पैदा होनेसे भी पहिले नष्ट हो गईं।

"परदा दूर करनेके बाद जीवनमें जो परिवर्तन हुआ है, वह वर्णन करनेका नहीं ; किन्तु अनुभव करनेका विषय है। पहिले और इस समयके जीवनमें जमीन-आसमानका अन्तर दीख पड़ता है। अब समझमें नहीं आता कि तब मैं उस जीवनमें कैसे रही होऊंगी। पीछे जिस बड़े तथा खुले कारागारको देखनेका कई बार सुअवसर प्राप्त हुआ, तब वह बहुत भयानक जान पड़ता था और अब मालूम होता है कि वास्तविक कारागार तो वह था, जो वस्तुतः बड़ा भयानक, तंग तथा कठोर था। मुश्किलसे आठ-दस महीनेमें कहीं जाना मिलता था, वह भी चलते-फिरते तम्बूमें बन्द होकर। घरके काम-काज और रिश्ते-नातेदारीको निभाना ही हमारा जीवन था। उसके सिवा हमारे सामने जीवनका न कोई अर्थ था और न लक्ष्य। मन मुर्झाया रहता था। उसमें कभी भी किसी प्रकारका कोई सद्भाव, उत्साह या महत्वाकांक्षा पैदा नहीं होती थी। मेरी ऐसी कई बीमारियां दूर हो गईं, जो कई वर्षों तक लगातार औषधोपचार करने पर भी दूर नहीं हो रही थीं।

"अपने अनुभवसे मैं यह बिना सङ्कोच कह सकती हूं कि एक दिन भी परदेमें रहना अपनी ऐसी अपार हानि करना है, जिसकी क्षति पूर्ति नहीं हो सकती। साधारण ज्वरका एक हलका-सा हमला मनुष्यको कितना निर्बल बना देता है? उनकी निर्बलताकी कुछ कल्पना तो कीजिये, जिनको इस परदेके कारण सारी आयु ही बीमारीमें बितानी पड़ती है। निस्सन्देह, समाजमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जो परदा-प्रथाके कट्टर समर्थक हैं, जिनकी दृष्टिमें परदा दूर करनेका अर्थ चरित्रहीनता है और जो उसको प्रतिष्ठाका चिन्ह समझते हैं। बड़ोंके प्रति मान प्रतिष्ठाका व्यवहार तो अवश्य

होना चाहिये, पर परदेके साथ जिस मान-प्रतिष्ठाका सम्बन्ध बताया जाता है, वह निरर्थक और काल्पनिक है। चरित्र-हीनता का आक्षेप भी संशयात्मक वृत्तिका परिणाम होनेसे निराधार है। बहिनोंको अपने जीवनके सम्बन्धमें अपनी स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार करना चाहिये और इस जीवनके कर्तव्य-कर्म तथा उत्तरदायित्वको समझना चाहिये। यह जंगली प्रथा यदि हमारे जीवनके विकासमें बाधक है, तो उसको बिना किसी हिचकिचाहटके दूर कर देना चाहिये। सुधारक कहे जानेवाले भाई-बहिनोंका कर्तव्य कुछ अधिक है। उनको चाहिये कि अपने बड़प्पनका विचार छोड़कर गरीबसे गरीब घरमें जाकर नवजीवन तथा जागृतिका संदेश पहुंचावें और परदा ही नहीं सभी कुरीतियोंसे अपनी बहिनोंको मुक्ति दिलावें।"

(७) कल्पनातीत और वर्णनातीत परिवर्तन

नागपुरके राष्ट्रसेवी और समाज-सुधारक श्रीछगनलालजी भारुका बी० ए० की वीर पत्नी श्रीमती चम्पादेवीजी लिखती हैं:—

"हमारे समाजमें बाहर वालोंसे ही नहीं, घर वालोंसे भी परदा करना पड़ता है, बड़ी बूढ़ी स्त्रियोंके सामने बिना घूंघटके हम नहीं निकल सकतीं। हवा और सूरजकी रोशनी सिर्फ मां-बापके घरमें मिलती है। घरमें यदि अचानक कोई बड़ा आदमी आ जाय, तो हमको एकाएक जहां हों वहां ही सिमट कर बैठ जाना पड़ता है। कभी कभी तो पेशाब और टट्टीकी आड़में छिपना पड़ता है। बाहरसे आनेवाला कुछ पूछे तो मुंहसे सिवा 'टच' आवाज निकालनेके हम कुछ और बोल नहीं सकतीं। विवाहके बाद एक वर्ष तक ऐसी ही अवस्था मेरी रही। पर,

श्रीभारुकाजी इस जीवनके विरोधी थे। वे प्रेम, क्रोध और असन्तोष प्रकट करते हुए मुझको परदा दूर कर घरके कामकाजमें लगनेके लिये सदा समझाते रहते थे। सन् १९२९ में धामनगांवमें माहेश्वरी महासभाका अधिवेशन हुआ। माहेश्वरी न होनेपर भी हम दोनों दूसरी परिषदों तथा सम्मेलनोंमें सम्मिलित होनेके लिये वहां गये। राजस्थानीय-नव-जीवन मण्डलका परदा-निवारक मण्डल भी वहां आया था। वहांके वातावरणसे यह भाव दिलमें दृढ़ हो गया कि परदा निरर्थक और हमारे जीवनके विकासमें बाधक है। घर लौटकर रिश्तेदारोंके सिवा बाकी सबसे परदा हटा दिया। लौटते हुए रेल गाड़ीमें भी परदा नहीं किया। १९३० के आन्दोलनके शुरू होने तक रिश्तेदारोंसे परदा दूर करनेका साहस नहीं हुआ। सभाओंमें आना-जाना और महाराष्ट्रीय-महिलाओंसे मिलना-जुलना उसी समय शुरू किया था। परदेका बन्धन दिन-पर-दिन ढीला पड़ता गया। १३ अप्रैल १९३० को नागपुरमें नमक कानून तोड़ा गया। स्वर्गीय नरकेसरी श्रीयुत मोरोपन्त अभ्यंकरने टाउन हालकी सभामें उस दिन गैरकानूनी नमककी कुछ पुड़ियोंका नीलाम किया था। नीलाममें बोली बोलनेकी मुझमें ऐसी इच्छा और उत्साह पैदा हुआ कि मैं अपनेको रोक न सकी। श्रीभारुकाजीको देखा और पता लगवाया वे कहीं मिले नहीं। संकोच तो था, फिर भी एक स्वयंसेवककी मार्फत मैंने एक पुड़ियाकी २०१) रु० तक बोली बोलती चली गई। पर, वह २५१ रु० में किसी और ने ले ली। मेरे दिलमें उसके न मिलनेका दुःख बना रहा। घरमें आकर दूसरे दिन अन्त तक बोली बोलनेकी अनुमति लेने पर मुझको कुछ सन्तोष हुआ। मैं

खरीदनेका पूरा निश्चय करके दूसरे दिनकी सभामें गई और एक पुड़िया खरीद ली। अभ्यंकरजीके आग्रह पर मुझको मंचपर आकर विना घूंघट किये सबके सामने खड़ा होना पड़ा। मेरे लिये वह पहिला अवसर था। मारे लज्जाके मैं जमीनमें गड़ी जाती थी। दो तीन मिनटका समय भी न लगा होगा कि घबराहटके कारण मेरी सब देह पसीना पसीना हो गई। पर, मेरा रहा-सहा परदा भी सदाके लिये छूट गया। १६३२ के आन्दोलनमें पेशावर दिवस मनानेके कारण मुझको जेल जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तबसे राष्ट्रीय और समाजिक कार्योंमें मैं पूरे उत्साहके साथ भाग लेती हूं। जबलपुरमें १६३५ मे जो अग्रवाल महिला सम्मेलन हुआ था, उसकी स्वागतसमितिकी मैं उपप्रधाना निर्वाचित की गई थी।

"परदा दूर करने और ऐसे ही अन्य समाज सुधार सम्बन्धी कार्योंके लिये, जिनमें हरिजन सेवा भी शामिल है, सबसे पहिले घर वालोंके विरोधका सामना करना पड़ता है। रिश्ते-नातेदारी वालोंके ताने भी सुनने पड़ते हैं। हम दोनोंको माता पितासे अलग रहनेके लिये मजबूर होना पड़ा, किन्तु शान्त और प्रेमपूर्ण व्यवहार से माता-पिताको सन्तुष्ट करनेमें अधिक समय नहीं लगा। पर, दूसरोंके ताने तो अब तक भी बराबर सुनने पड़ते हैं। मेरा यह अनुभव है कि दृढ़ता और दोषरहित प्रेमपूर्ण व्यवहारसे सब प्रकारकी कठिनाइयां और विरोध पर सहजमें विजय प्राप्त की जा सकती है। परदा दूर करने पर मेरे जीवनमें जो परिवर्तन हुआ है, वह मेरे लिये पहिले कल्पनातीत था और अब वर्णनातीत है। संकोच, भय निर्बलता और झिझकका स्थान साहस, स्फूर्ति, स्वतन्त्रता और हिम्मतने ले लिया है। नये

जीवनका आनन्द और सुख अनुभव होता है। मेहमानों और पतिकी अनुपस्थितिमें आने वाले उनके मित्रोंको अब मेरे मुंहसे 'हिच-टच' सुन कर निराश और दुःखी होकर नहीं लौट जाना पड़ता। अब मैं उनका अतिथ्य कर सकती हूं। मुकद्दमें वगैरह के लिये आने वाले मुवक्किलोंको भी निराश नहीं होना पड़ता, जिससे घरके कामकाजके सुचारु होनेके साथ-साथ आमदनीमें भी वृद्धि हुई है। अब मैं पतिके लिये भार न होकर सहायक हूं और सच्चे अर्थोंमें 'अर्द्धांगिनी' हूं। वेशभूषामें जो परिवर्तन हुआ है, वह भी अत्यन्त सुखकर मालूम होता है। 'बोर' के कारण सिरके बालों की सफाई न होनेसे सदा भारी रहता था और दर्दकी शिकायत दिन-रात बनी रहती थी। अब सिर बहुत हलका रहता है। अपनेसे भी अधिक बड़े घाघरे और भारी जेवरोंसे पिंड छूटा। स्वास्थ्यमें भी बहुत सुधार हुआ है। सारांश यह है कि मेरे जीवन, घरकी व्यवस्था और भीतर-बाहर काम-काजमें जो परिवर्तन हुआ है, उसको देखते हुए मैं अपनी बहिनोंसे यह पूरे जोरके साथ कहती हूं कि वे परदेको तुरन्त दूर कर अपने जीवन और अपने नामको मेरे समान सार्थक करें।"

(८) सुखी परिवार

वर्धाका भैया-परिवार अपने समाजमें सुखी, सम्पन्न और सुधारक परिवार है, जिसका सब श्रेय मातुः श्री काशीबाई भैय्याको है। माताके कर्तव्यका पालन कर किस प्रकार परिवारमें सुखका सम्राज्य स्थापित किया जा सकता है, इसका उल्लेख अपने वक्तव्यमें किया है। अच्छा हो यदि बूढ़ी मातायें आपके इस वक्तव्यसे कुछ लाभ उठा सकें। आप लिखती हैं —

"आयु इस समय ६७ वर्षकी है। इस आयुमें स्त्रियोंका परदा प्रायः छूट जाता है। इस लिये परदा छोड़नेके सम्बन्धमें मैं क्या लिख सकती हूं? पर मैं यह जरूर बता सकती हूं कि वृद्ध स्त्री-पुरुषोंकी ओरसे परदा दूर करनेका विरोध होने पर भी मैंने अपने घर या परिवारमे से परदा क्यों दूर करवा दिया? कोई बीस वर्ष पहिले मैंने परदा दूर करनेकी बात सुनी थी और सत्रह-अठारह वर्ष पहिले घरमें इस विषयकी चर्चा होने लगी थी। पर हृदयमें रूढ़ि-पालनका धर्म घर किये हुए था और परदेके प्रति भी अन्ध विश्वास बना हुआ था। इसलिये परदेका मोह भी बना रहा। १९२० में मेरे एक लड़केने कालेजकी पढ़ाई छोड़ कर कांग्रेसका काम करना शुरू किया। मैंने खादी पहिननेका व्रत लिया और अपने घर से विदेशी वस्त्रको निकालनेका यत्न किया। मैंने यह भी अनुभव किया कि जब सब समय बदल रहा है तब मुझको क्या अधिकार है कि मैं अपने बच्चों और बहुओं पर ५० वर्ष पहिलेके विचारोंको जबरन लादूं? वे समय और परिस्थितिके अनुसार कार्य करते, मेरी उनके साथ पूरी सहानुभूति रहती। घरसे परदा-प्रथाके उठ जाने पर आज मैं अनुभव करती हूं कि :—

(१) बहुओं पर अपना आतंकपूर्ण शासन कायम करनेका यत्न न करनेसे मैं उनके लिये डाइन-सास न होकर माताके समान हूं।

(२) बहुओंके लिये ससुराल कैद-घर न होकर मायकेके समान ही स्वास्थ्यप्रद स्थान है। दूसरे घरोंकी अपेक्षा मेरे घरमें बहुओंका साधारण स्वास्थ्य अच्छा है

(३) घरमे सात्विकताकी वृद्धि हुई है।

(४) बहुओं और लड़कियोंको अपनी उन्नतिके लिये पूरा अवसर प्राप्त है

महीन कपड़ोंमें शरीर-प्रदर्शन काणा-घूंघट, घर और बाहर पगड़ीके अलावा चाहे जहां मुंह खुला रखना, स्टेशनों पर स्नान आदि कर्म या कुकर्म वर्तमान परदेके भयानक पाप हैं और परदा करने वाले समाजोंके लिये कलंक है। मुझे बड़ा सन्तोष है कि मेरा घर ऐसे पापमय कलंकसे बचा हुआ है और समाजके माथे पर से उस कलंकको दूर करनेके लिये उसने अपने कर्तव्यका पालन किया है। सबसे बड़ा सन्तोष मुझे यह है कि मेरे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहारके कारण मेरे बचोंकी गृहस्थी सुखमय है। मेरे अन्तिम दिन, सुख, शान्ति और सन्तोषसे परिपूर्ण हैं। मैं निश्चिन्त होकर ईश्वरकी भक्ति और देशकी मंगलकामना करनेमें लगी रहती हूं। आज घरमें सबकी श्रद्धा मुझको अनायास ही प्राप्त है। घरमें परदेका अन्धा शासन रहते हुए यह सब होना असम्भव था।"

(९) अन्धेरेसे उजालेमें

श्रीमती गंगादेवीजी मोहता बीकानेरी महेश्वरी-समाजमें परदा दूर कर पुरुषोंको परास्त करने वाली हिम्मतका परिचय देने वाली पहिली महिला हैं। इस समय आप कलकत्ताके हिन्दू अबला आश्रम की प्रधान अधिष्ठात्रीका काम कर रही हैं। बड़ा बाजार कलकत्ताके समाज-सुधार-सम्बन्धी सार्वजनिक कार्योंमें आप और श्री बालकृष्णजी मोहता सदा ही आगे रहते हैं अपने सुपुत्र ब्रह्मका अग्रवाल कन्याके साथ अन्तर समाजिक-विवाह सम्बन्ध करके आपने अनुपम साहसका परिचय दिया है। आप लिखती हैं :—

"मेरा जब विवाह हुआ था, तब मेरी आयु ६ वर्षकी थी और मोहताजीकी १४ वर्ष की। ससुरालमें उस आयुमे भी घूंघट काढ़ना पड़ता था और किसी बड़ी-बूढ़ी स्त्रीसे बोलने तककी स्वतन्त्रता नहीं थी। विवाहके ६ वर्ष बाद संवत् १६७२ में मैं मोहताजीके साथ पंजाब गई, और एक महीना वहां रही। वहा हमारे स्वजातीय घरोंमें भी इतना कठोर परदा न था, जितनाकी बीकानेरमें था। इसलिये बीकानेर लौट कर जब आई, तब मेरा परदा कुछ ढीला हो गया। मोहताजी तबसे ही परदेके विरोधी थे। इसलिये घर वालोंकी नाराजगी और विरोध पर भी मेरा परदा कम होता गया। १६७५ में हम दोनों कलकत्ता आ गये और यहां मारवाड़ी-बालिका विद्यालयकी प्रधान-अध्यापिका श्रीमती चन्द्रादेवीकी सगतिमें रहनेका मुझको अवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ सभाओं में जाने लगी और सार्वजनिक कार्योंमे मेरी कुछ रुचि पैदा हुई। माहेश्वरी महासभाके अधिवेशनोंमें मैंने सम्मिलित होना शुरू किया। दूसरी बहिनोंका परदा दूर करानेमें मैं लग गई। १६३० में जेल जानेका सुअवसर मुझको प्राप्त हुआ। इस प्रकार यथा शक्ति सार्वजनिक कार्यमें निरन्तर लगी रहती हूं। आज कल स्थानीय 'हिन्दू-अबला-आश्रम' की प्रधान अधिष्ठात्रीका कार्य कर रही हूं।

"परदा दूर करनेमें घर वालोंकी ओरसे बहुत विरोध होता है। ससुराल वालोंके विरोध, पतिकी प्रतिकूलता और अपनेमें यथेष्ट साहसका अभाव होने पर परदा दूर करनेके लिये दूसरे ही युगकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। परदेमें जीवन कितना निराश और निरर्थक होता है, उसका अनुभव तो परदा छोड़ने वाला ही

कर सकता है। आगे बढ़नेके बाद पीछेकी अनुकूलता-प्रतिकूलता का कुछ अधिक पता चलता है। जितना भेद नेत्रहीन और नेत्रवालीमें है, जितना अन्धेरे और उजालेमें है, मूर्ख और ज्ञानीमें है, उतना ही परदा करने और न करने वालीमें, घरसे बाहर न निकलने और सार्वजनिक काम करने वालीमें है। मेरा अपनी बहिनोंसे यह अनुरोध है कि वे परदा दूर करनेका अर्थ हमारे लिये आत्मोद्धारका द्वार समझें। इसलिये आत्मोद्धार कार्यके करनेमें दूसरोंकी परवाह हमको कदापि नही करनी चाहिये। पुरातन क्या नवीन समाजमें भी ऐसे लोग हैं, जो नवयुवक होने पर भी कट्टरतामें बूढ़ोंके नाक-कान काटते हैं और स्त्रियोंकी प्रगतिके विरोधी हैं। स्वातन्त्र्यकी उनको कुछ भी कल्पना नहीं है और विचार स्वातन्त्र्यका उनके लिये कुछ भी अर्थ नहीं है। ऐसे घर या समाजमें रहकर आत्मघात करनेकी अपेक्षा उसको त्याग देना कहीं अधिक अच्छा है।"

(१०) जीवनका विकास

श्री० किसनलालजी गोएनका अपने विचारों पर चट्टानकी तरह दृढ़ रहने वाले कट्टर समाज सुधारक हैं। आपने कट्टरताके किलेमें दृढ़ताका जैसा परिचय दिया है, वैसा उदाहरण कहीं और मिलना कठिन है। आपकी पत्नी श्रीमती राधा देवी गोएनका बरारकी प्रगतिशील महिलाओंमें अग्रणी हैं। आप लिखती हैं :—

"बाल्यावस्थामें विवाहके साथ ही परदेका जीवन प्रारम्भ हो गया था। समाजकी प्रचलित प्रथा होनेसे, शिक्षा एवं जीवनके वास्तविक सुखोंका कुछ ज्ञान न होनेसे परदेमें कुछ कष्ट प्रतीत नहीं

हुआ। श्री किशनलालजी गोयनकाने परदे तथा अन्य कुरीतियोंके विरुद्ध मुझे समझाना शुरू किया। मैंने परदेको जीवनके विकासके लिये वाधक समझ उसको दूर करना आरम्भ किया। मेरी सास पुराने विचारोंकी थी। मेरा परदा त्यागना उनको पसन्द नहीं था। इसलिए उन्होंने नाराजगी प्रकट की और वादमें वे सदा ही नाराज रहने लगीं। उनकी सव नाराजगीको मैं शान्तिके साथ सहन करती रही। कभी उनका अपमान नहीं किया। वड़ी नम्रता के साथ यथासम्भव उनकी सेवा करती रही। घरके कामकाजकी सव व्यवस्थाके साथ-साथ कारवारका सव प्रवन्ध भी वे अपने हाथ में रखती थीं। इसलिये हम दोनोंको आर्थिक तंगीका भी सामना करना पड़ा, जिसको वड़ी प्रसन्नताके साथ हमने सहन किया।

"परदा छोड़नेके साथ वेश-भूषाकी और रहन-सहनकी वहुत-सी अस्वाभाविकता सहजमें नष्ट हो गई। जीवनमें सादगी आई, आत्मविश्वास पैदा हुआ, नवीन सुख अनुभव हुआ और दृढ़ताका संचार हो गया। जिस मानसिक और आत्मिक स्वतन्त्रताका अनुभव मैं कर रही हूं उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वास्तवमें परदा हमारे जीवनके विकासकी सवसे वड़ी रुकावट है। परदा छोड़नेके वाद मुझको सार्वजनिक सेवाका जो अवसर प्राप्त हुआ है, उससे वहुत सन्तोष मिला है। अपने समाजमेंसे परदा दूर करनेके आन्दोलनमें मैंने भाग लिया है। हरिजन सेवाका भी कुछ कार्य किया है। अभी-अभी अकोलामें राष्ट्रीय-भाषाके प्रचारका जो क्लास खोला गया है, उसका भी कुछ कार्य मेरे सिपुर्द है। यद्यपि मेरी सार्वजनिक सेवा नहीं के

बराबर है, पर फिर भी जो कुछ कर सकी हूं या कर रही हूं, वह परदा दूर करनेसे ही संभव हुई है। परदा-निवारणसे मुझको जो लाभ मिला है और उससे होने वाले कल्याणों पर जब मैं विचार करती हूं, तब मेरे हृदयमें यही भावना पैदा होती है कि हमारे समाज और देशमेंसे जितनी भी जल्दी परदा दूर हो जाय, उतना ही अच्छा है। संसारका सच्चा सुख अनुभव करने और अपना वास्तविक स्वरूप पहिचाननेके लिये बहिनोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे परदेका यथाशीघ्र परित्याग करें। परदेका परित्याग स्त्रियोंके ही नहीं, किन्तु समस्त भारतके उत्थानका मूल मन्त्र है।"

(११) सादा और सरल जीवन

श्रीमती मनोरमा शर्माकी स्वर्गीया सासका वक्तव्य पीछे दिया जा चुका है। आप इस सम्बन्धमें लिखती हैं कि :—

"मेरी आयु इस समय २५ वर्षकी है। १६३० में एकाएक परदेका परित्याग कर मैंने कांग्रेसका कार्य शुरू किया और प्रयाग जिलेके देहातोंमें घूमने लगी। स्वजातीय लोगोंमें इसकी बहुत चर्चा हुई, किन्तु पतिकी अनुकूलताके कारण उस चर्चाका मुझपर कुछ भी असर नहीं हुआ। आभूषणोंका मोह भी छूट गया। अब दो मोटी खादीकी साड़ी, दो ब्लाउज और झोलेमें काम चल जाता है। १६३० और १६३२ में सवा दो वर्ष जेल भोग आई हूं। हमीरपुर जिलेके चौदाह स्थानमें जलूसका नेतृत्व करते हुए पुलिसकी मार खाकर मैं बेहोश होकर गिर गई थी और बहुत-सी बहिनें रुधिरसे लथपथ हो गई थीं। संयुक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभामें इस सम्बन्धमें बहुतसे प्रश्न पूछे गये थे। गांव-गांवमें घूमकर मैंने यह

अनुभव किया है कि आभूषणोंकी इच्छा स्त्रियोंमें अधिक है, किन्तु परदा अधिकतर पुरुष अपनी प्रतिष्ठाके विचारसे चाहते हैं। स्त्रियों को अपने अधिकार और कर्तव्य दोनोंका विचार करके पुरुषोंसे कदापि पीछे नहीं रहना चाहिये। परदा उनकी प्रगतिमें सबसे बड़ी बाधा है। इस लिये उसको दूर करना अत्यन्त अभीष्ट और आवश्यक है।"

(१२) सुखी जीवन

कलकत्ताके श्रीयुत वसन्तलालजी मुरारका मारवाडी-समाजके सुधारक वर्गमें भी सर्वाग्रणी, सुदृढ़ राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र विचारक हैं। आपकी सहधर्मिणी श्रीमती रमादेवीजी मुरारका लिखती हैं:—

"परदेमें जीवन बड़ा अरुचिकर और अशान्त रहा करता था। समाजमें परदा-विरोधी आन्दोलन शुरू होने पर मेरे मनमें भी परदा दूर करनेकी प्रवृत्ति पैदा हुई। इसी समय 'राजस्थानी-नव-जीवन-मण्डल' की ओरसे एक डेपुटेशनने परदेके विरुद्ध आन्दोलन करनेके लिये देशके प्रधान-प्रधान नगरोंमें दौरा किया। मुझे भी उसके साथ घूमनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था। इसी समय मेरा रहा-सहा परदा भी दूर हो गया और संकोच, झिझक तथा भय भी मिट गया। प्रारम्भमें पारिवारिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा और आन्दोलन तथा निन्दा भी सुननी पड़ी, किन्तु उनसे मैं विचलित नहीं हुई। परदा दूर करनेके बाद जीवनमें जो परिवर्तन हुआ है, वह अत्यन्त सुखकर हुआ है। घर-गृहस्थीके काम काजमें बड़ी सुविधा हो गई, बाजारसे मनोवांछित सामान लानेमें बहुत आसानी हो गई, स्वास्थ्यको लाभ पहुंचा और बुद्धिके

विकाशमें भी सहायता मिली। वेशभूषा और रहन-सहनका सब रङ्ग-ढङ्ग बदल गया। जीवन अधिक स्वच्छ, सुन्दर, सरल और सुखी हो गया। सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवनमें भाग लेना सहज हो गया। मेरी सब बहिनोंसे यह प्रार्थना है कि यदि वे सुखी होना चाहती हैं, बच्चोंके जीवनका विकास करना चाहती हैं और समाजको उन्नत तथा समृद्ध देखना चाहती हैं, तो उन्हें परदेको अवश्य छोड़ देना चाहिये।"

(१३) आनन्दमय जीवन

परवार-जैन-समाजमें श्रीमती विद्यावती देवड़िया पहली हैं, जिन्होंने परदा-प्रथाका त्याग कर राष्ट्रीय क्षेत्रमें पदार्पण कर जेल जाना स्वीकार किया है। सामाजिक क्षेत्रमें भी आपने अच्छा नाम पैदा किया है। आप अपने वक्तव्यमें लिखती हैं :—

"मेरा विवाह १० वर्षकी आयुमें हुआ था। सामाजिक दृष्टिसे मेरी वह अज्ञान अवस्था थी और मेरी शिक्षा भी कुछ नहीं हुई थी। मेरे पतिकी अवस्था थी १६ वर्ष की। वे चौथी श्रेणी तक केवल हिन्दी पढ़े थे। ससुरालमें उस अज्ञान अवस्थामें भी मुझको परदेमें बन्द रहना पड़ता था। ककिया सासोंके कारण मेरा जीवन बहुत दुःखी था। विवश होकर घरसे अलग होना पड़ा। मेरे स्वर्गीय भाई खुशालचन्दकी प्रेरणासे मैंने हिन्दी पढ़ना-लिखना शुरू किया। कुछ समय बाद हिन्दी-साहित्य और कवितामें मेरी विशेष रुचि पैदा हो गई। जैन पत्र-पत्रिकाओंमें मैंने लिखना शुरू किया। मेरा उत्साह बढ़ा। मेरेमें समाज-सेवा और जाति-सेवाकी भावना जागृत हुई। १९३२ में देशमें राष्ट्रीय आन्दोलनने

जोर पकड़ा। मेरे पति स्वदेशी तथा स्वराज्यके आन्दोलनमें पूरी तरह रंग गये। मुझे भी वे उसी रंगमें रंगनेका यत्न करने लगे। मेरा परदा दूर हुआ और मैं कांग्रेसके काममें लग गई। समाजमें तहलका मच गया। शुरूमें मुझे वहुत संकोच और लज्जा मालूम होती थी। समाजमें होनेवाली निन्दा और मुझपर किये जाने वाले आक्षेपोंका भी कुछ कम भय नहीं था। पर, मैं यह अनुभव कर चुकी थी कि परदा विलकुल निरर्थक है। समाज या स्त्रियोंके लिये वह कुछ भी लाभप्रद नहीं है। उसके कारण स्त्रियां अज्ञानवश पशुओंका-सा जीवन विताती हैं। उनके जीवनमें कोई रस नहीं रहता, वे बच्चा जनने और रसोई पकाने-का साधनमात्र समझी जाती हैं, सदा दूसरोंपर निर्भर रहती हैं, भीरुपन पराकाष्ठाको पहुंच जाता है और वे साधारण-सा सङ्कट आ पड़नेपर भी अपनी, अपने धर्मकी रक्षा नहीं कर सकतीं। परदेकी इन बुराइयोंको समझ कर उसको दूर करनेके कारण निन्दा तथा आक्षेपोंसे मैं नहीं घबराई और दृढ़ताके साथ देश-सेवाके मार्ग पर अग्रसर होती गई। ६ जनवरी १६३२ को स्वर्गीय नर केसरी अभ्यङ्कर, महात्मा भगवानदीनजी, सेठ पूनमचन्दजी रांका और आचार्य धर्माधिकारीजीके साथ गिरफ्तार होनेका मुझको सौभाग्य प्राप्त हुआ।

"परदा दूर करनेके बाद मुझे अपना जीवन सार्थक मालूम होने लगा। मेरा स्वास्थ्य वहुत सुधर गया। मैंने अनुभव किया कि पुरुषोंके साथ स्त्रियोंके कार्य करनेके सम्बन्धमें जिन बुराइयोंकी कल्पना की जाती है, वे निर्मूल और मिथ्या हैं। मेरी संकीर्णता नष्ट हो गई। दिल और दिमागमें उदारता पैदा हुई। मन और

आत्माका विकास हुआ। देशकी वर्तमान परिस्थितिमें स्त्रियोंके कार्यक्षेत्रमें उतरनेकी सबसे अधिक आवश्यकता है। परदा उसमें सबसे बड़ी बाधा है। इसलिये उसका दूर करना जरूरी है। अपनी बहिनोंको मैं विश्वास दिलाती हूं कि परदेका त्याग करनेके बाद मुझको कभी भी दुःख, क्षोभ या ग्लानि अनुभव नहीं हुई, किन्तु जीवनमें उत्साह, चैतन्यता और स्फूर्तिका अकथनीय आनन्द सदा बना रहता है। इस आनन्दमय जीवनकी प्राप्ति परदेमें रहते हुए नितान्त असम्भव है।

(१४) कटु अनुभव

सीतामढ़ी (बिहार) की श्रीमती रामतनुक देवी १९१९ से सार्वजनिक क्षेत्रमें कार्य कर रही हैं। आर्यसमाजके सेवा-कार्यसे सार्वजनिक जीवनका प्रारम्भ हुआ है। १९२१ में आप लुक-छिप कर कांग्रेसका कार्य करती रहीं। १९३० में पूरी लगनके साथ काम करनेपर भी आप सासकी बीमारीके कारण जेल न जा सकीं। १९३२ में अपने सब डिविजनको डिक्टेटर होकर आप जेल गईं। १४ मास हजारीबाग जेलमें रहीं। आप आल इण्डिया कांग्रेस कमेटीकी सदस्या हैं और बिहार प्रान्तीय महिला-समितिकी मन्त्रिणी हैं। अपने कटु अनुभवोंके सम्बन्धमें आप लिखती हैं :—

"बारह वर्षकी आयुमें मेरा विवाह हुआ। परदेकी कठोरताके कारण प्रारम्भिक जीवन बड़े दुःखमें बीता। हिस्टीरिया आदिकी शिकायत पैदा हो गई, जिसका दुःखदायी परिणाम अब तक भी भोग रही हूं। सोलह वर्षकी आयुमें विधवा हो गई। उसके

दांके बाहर खुली हवामें
स्वतन्त्रता पूर्वक घूमने
वाली महिला।

परदेके भीतर हमेशा रहने वाली
मारवाडी महिलाका
[illegible]।

बाद परदेमें भी मुझको काल-कोठरीमें बन्द रहना पड़ता था। छोटे भाई की सहानुभूति और कृपासे मुझको आर्य सभाकी पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। उनसे परदेके विरुद्ध प्रवृत्ति पैदा हुई। धीरे-धीरे परदा छोडा, किन्तु कल्पनातीत कठिनाइयों और घोर कष्टोंका सामना करना पड़ा। सबसे पहिले मेरा सामाजिक बहिष्कार किया गया। मेरे साथ खान-पान आदिका सब सम्बन्ध त्याग दिया गया। जीवन इतना संकटापन्न हो गया कि रातमें एक बार घरमें आग लगा दी गई और चोरी भी करवा दी गई। दिनमें कई बार लोगोंने घर आ घेरा और तरह-तरहकी धमकियां दीं। मैं अपने विचारों पर दृढ़ रही। ३-४ हजार रुपयेकी हानि उठाने पर भी मैंने अपना विचार नहीं बदला। व्यक्तिगत जीवनमें सादगी आनेसे विशेष सुख अनुभव हुआ, किन्तु सामाजिक कष्ट बहुत समय तक बना रहा। बिहारी लोगोंमें सामाजिक कट्टरता बहुत अधिक है और परदेके सम्बन्धमें भी उनके विचार बहुत संकीर्ण हैं। इस लिये बहुत अधिक कष्टोंका सामना करना पड़ा। अपनी बहिनोंसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे सब कष्ट भोगनेकी तैयारी करके परदेको त्यागनेका संकल्प करें और यदि उनके संकल्पमें सचाई तथा दृढ़ता होगी, तो मार्गमें आने वाले विरोध, बाधा और कष्टके सुखमें परिणत होनेमें अधिक समय नहीं लगेगा। सफलता सहजमें आपके चरणोंमें आ लेटेगी।

(१५) ठोस-सेवा

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी ओरसे महिला-लेखकोंके लिये 'सेखसरिया-परितोषिक' के प्रतिष्ठाता, महिलाओंकी जागृति एवं

प्रगतिकी चिन्तामें अहोरात्रि व्यस्त रहने वाले, दृढ़ समाज-सुधारक और कट्टर राष्ट्रवादी श्रीयुत सीतारामजी सेखसरिया और आपकी पत्नी श्रीमती भगवान देवीजी सेखसरिया दोनों स्त्रियोंके उत्थानके कार्यमें निरन्तर लगे रहते हैं। श्रीमतीजीने अपने वक्तव्यमें लिखा है :—

"आजसे लगभग १० वर्ष पहिले परदा छोड़नेकी बात मुझसे कही गई थी। घूंघट हटा कर पुरुषोंके सामने खुले मुंह जानेकी कल्पना करते ही मुझको भय मालूम होता था। जब मैं किसी मारवाड़ी बहिनको खुले मुंह देखती थी, तो चकित रह जाती थी। मुझे यह ख्याल भी न था कि किसी दिन यह बला मेरे सिर पर भी आ पड़ेगी और मुझको घूंघट हटा कर पुरुषोंके सामने खुले मुंह रहना पड़ेगा। विचार करने पर पता चला कि हमरा परदा तो केवल जान-पहचानके लोगोंसे है, आम लोगोंसे तो हम परदा करती ही नहीं हैं। यह लज्जा या शर्म बिलकुल व्यर्थ और निरर्थक है। परदा न करने वाली बहिनोंमें सबसे पहिले मेरा परिचय बहिन गंगादेवीजी मोहतासे हुआ। उनकी प्रेरणासे मुझमें यथेष्ट साहस पैदा हुआ। बड़ा घूंघट दूर हुआ और उसकी जगह छोटे घूंघट अर्थात् 'नीचे पल्ले' ने ले ली। इसी पर बहुत टीका-टिप्पणी, चर्चा और निन्दा होनी शुरू हो गई। फिर हम एक ऐसे मकानमें रहने लगे, जहां चर्चा करने वालोंसे पिंड छुटा। वहां हम ही थे या हमारे विचारोंके साथ समता रखने वाले कुछ और लोग। इस मकानमें आने पर परदा और कम हो गया, रङ्ग-बिरङ्गे कपड़े और भारी गहने भी छूट गये। खादी पहनना शुरू किया। यह सब कर तो लिया, पर मानसिक दुर्बलता इतनी

अधिक बनी हुई थी कि सगे-सम्बन्धियोंके यहां उस वेश-भूषामें जानेको साहस नहीं होता था। मेरी मामेर सासू पुराने विचारोंकी थीं। उनसे मुझको बहुत तरहकी बातें सुननी पड़ती थीं और उनकी फटकार भी सहन करनी पड़ती थी। मैं जब उनके यहां जाती, तब ओढ़ना और पैरोंमें पहिननेके छड़े तथा कुछ अन्य गहने साथ ले जाया करती थी। उनके दरवाजे पर पहुंचने पर ओढ़नी ओढ़, छड़ वगैरह, पहिन मारवाड़ी महिला बननेका ढोंग पूरा कर लेती थी और लौटने पर बाहर आ सब उतार कर समेट लेती थी। सन् १६२८ में वर्धा जानेका अवसर प्राप्त हुआ। पूज्य जमनालालजी बजाज, श्री जानकी बहन तथा अन्य देवियोंकी संगतिमें रहने और अश्रममें महात्मा गान्धीजीकी प्रार्थनामें सम्मिलित होकर उनका उपदेश सुननेका लाभ मिला। मैंने वहां परदेका पूरी तरह त्याग करके यह निश्चय कर लिया कि यथाशक्ति यथा सम्भव और बहिनोंको भी इस घातक कुप्रथासे मुक्त करने करानेकी कोशिश करूंगी। उस कोशिशमें लगनेके बाद मैंने यह अनुभव किया कि स्त्रियां स्वेच्छासे परदा नहीं करतीं। वे पुरुषकी इच्छाको जाननेकी विशेषता रखती हैं। उसके मनोभावको वे उसकी सूरतसे जान लेती हैं। उनको यदि संकेत भी मिल जाय कि पुरुष परदेके विरुद्ध है, तो उनको परदा दूर करने में एक दिन भी नहीं लगे। जिन स्त्रियोंको परदेमें रखा जाता है, वे भी लुक-छिप कर तांक-झांक करती रहती हैं और मारवाड़ी-समाजकी तो परदा करने वाली सभी बहिनें एक अंगुलीका घेरा बना काणे घूंघटसे बाहरकी सब चहल-पहल देखती रहती हैं। इसीसे मैं यह कहती हूं कि परदा स्त्रियोंकी इच्छाके विरुद्ध जबरन्

उनपर लादा गया है। वे लोक-लज्जा और निन्दाके भयसे घूंघट करती हैं। रानीगञ्जमें अग्रवाल-महासभाका बंगाल-प्रान्तीय-अधिवेशन था। मैंने वहां बहुत-सी बहिनोंसे परदा न करनेके सम्बन्ध में बातचीत की। प्रायः सभी बहिनोंने यह कहा कि पुरुषोंकी अनुमतिके बिना वे वैसा नहीं कर सकतीं। पुरुषोंसे बात की गई। 'नहीं' करना उनके लिये मुश्किल हो गया। उन बहिनोंने उस सभामें ही तुरन्त परदा त्याग दिया। हो सकता है कि जिन्होंने तीस-चालीस वर्ष परदेमें बिता दिये हैं, वे उसकी बुराईको अनुभव न करती हों और उसको दूर भी न करना चाहती हों, किन्तु सर्व साधारण स्त्रियोंके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह प्रकृतिके विरुद्ध है कि कोई अपनेको स्वयं कैदमें बन्द रखना चाहे और अपनी स्वतन्त्रताका विरोध करे। परदा त्यागनेके बाद मुझमें स्वतन्त्रता और स्वावलम्बनकी जो भावना पैदा हो गई है, वह मेरे लिये बहुत लाभप्रद और आनन्ददायक सिद्ध हुई है। ढोंग-ढकोसलेके भारी और भद्दे आभूषणोंसे पिंड छुट गया है। उनको रखने-संभालनेके झंझटसे मुक्ति मिल गई है। उनको पहिन कर बाहर जानेमें भय बना रहता था, वह अब नहीं रहा। बाजारसे आवश्यकताका मनोवांछित सामान अब मैं स्वयं खरीद लाती हूं। अब मैं कहीं जाने-आनेमें और रेलकी यात्रामें भी अपनेको कभी अकेली अनुभव नहीं करती। घरकी सब जिम्मेवारीको खूब अच्छी तरह पूरे सन्तोषके साथ निभाती हूं। अब जीवन अधिक सरल, सरस, सुखी और साहसपूर्ण मालूम होता है। स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा है। सार्वजनिक क्षेत्रमें कुछ काम कर लेती हूं। १९३० में जेल जानेका अवसर मुझको प्राप्त हुआ,

जिसको मैं अपना अहोभाग्य समझती हूं। सारांश यह है कि परदा छोड़नेके बादसे मेरे दाम्पत्य, घरेलू, सामाजिक और सार्वजनिक जीवनमें नये और आशापूर्ण अध्यायका प्रारम्भ हुआ है। मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि परदा दूर करने-करानेका आन्दोलन बड़े पुण्यका है और जो भाई-बहिन इसमे लगे हुए हैं, वे स्त्री-समाजकी बहुत बड़ी तथा ठोस सेवा करनेमे लगे हुए हैं।"

(१६) पुरुष दोषी हैं, स्त्री नहीं

श्रीमती सुभद्रा देवीजीने सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमें यशस्वी कार्य किया है। बिहारके प्रलयकारी भूकम्पके बाद बिहार-केन्द्रीय सहायक समितिकी ओरसे मुजफ्फरपुर जिलेके रामपुरहरि केन्द्रकी संचालिका होकर भूकम्प पीड़ितोंकी सेवा करनेवाली आप अकेली महिला थीं। आपने अपने अनुभवसे यह बताया है कि परदेके लिये पुरुष दोषी हैं,स्त्री नहीं। आप लिखती हैं कि—

"परदा करने या छोड़नेके सम्बन्धमें मेरा अपना अनुभव कुछ नहीं है, किन्तु परदा करनेवाली बहिनोंके सम्बन्धमें कुछ अनुभव अवश्य है। विवाहके बाद ससुराल आनेपर मुझको पहिला आदेश परदा करनेके सम्बन्धमें ही दिया गया था। मुझे कहा गया था कि 'यहां तो कुछ ही दिन रहना है। दो-चार दिनके पीछे दुनियाकी को-क्रो करवानेसे क्या लाभ है?' मैं एक ही दिन साधारण सा परदा करके बाहर निकली थी कि मेरा माथा चकरा गया, आंखोंके सामने अंधेरा छा गया और पैर लड़-खड़ाने लगे। परदेके सम्बन्धमें इस जीवनका यह पहिला और अन्तिम ही अनुभव था। उस दिनकी याद कर जब मैं सदा ही

परदेमें रहनेवाली बहिनोंकी अवस्थापर विचार करती हूं, त सहसा मेरा हृदय कांप उठता है। सबेरे बाहर घूमने जानेव आदत कुछ शुरूसे थी। वर्धा आकर बाहर घूमने जाना शुः किया ही था कि मारवाड़ी बहिनोंमें चर्चा होने लगी। य १९३३ का वह वर्ष था, जब सार्वजनिक जीवनमें महिलाओं भाग लेना शुरू नहीं किया था। इसलिये घरसे बाहर पैर रखन बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। बहिन जानकी देवीजी बजाजने समझाया कि मुझको वैसे घूमने नहीं जाना चाहिये। पर, मेरा घूमना जारी रहा और बादमें बहिनजीके बच्चे भी मेरे साथ जाने लग गये। उसी वर्ष वर्धासे कोकोनाड़ा जानेका अवसर प्राप्त हुआ। बहिन जोहरा साथमें थीं। उनके कारण मैं उनके साथ पुरुषोंसे आगे जनाने डिब्बेमें बैठी। पर थी मेरे लिये वह एक भारी मुसीबत। बात हुई तो वे तुरन्त उस डिब्बेमें चलनेको तैयार हो गईं, जिसमें सब साथी बैठे हुए थे। मेरे साथ उसको एकाएक खुले मुंह देख सबको बड़ा अचरज हुआ। रास्तेमें इलोराकी गुफाओंको देखनेके लिये ठहरे। हम दोनोंके लिये दो बैलगाड़ियाँ किराये पर की गईं, जिन पर कुछ सामान भी रख लिया गया था। स्वर्गीय श्रीराधामोहन गोकुलजी, महात्मा भगवानदीनजी आदिको पैदल चलते देख मुझे गाड़ी पर लदे रहना बहुत अखरा और मैं भी पैदल चल दी। मुझे देख कर बहिन जोहरा भी गाड़ीसे उतर आईं और अपना बुर्का गाड़ी पर ही छोड़ आईं। वह लम्बा पहाड़ी रास्ता कूदते-फांदते बातों-बातोंमें तय कर दिया गया। दौलतावादके किले पर चढ़ते हुए महात्माजीने हम दोनोंकी दौड़ लगवाई। दूसरे दिन

हम सब सिकन्दराबाद ठहरे। हैदराबाद घूमने जानेको निकले तो बहन जोहराको मेरे ही समान साड़ीके वेशमें देख कर भाई आबिद अली ऐसे झेंपे कि साथ चलनेको भी तैयार न हुए। कोकोनाड़ामें बहिन जोहराने बुर्केको छुआ तक नहीं। वी अम्माके पास जानेकी बात हुई। भाई आबिद अलीका आग्रह था कि जोहरा बुर्का ओढ़े, पर वह उसके लिये तैयार न हुई और बी अम्माके पास जाना भी न हुआ। सदा परदेमें बन्द रहनेवाली बहिन जोहराने परदा छोड़नेमें जरा-सी भी झिझक, संकोच या आगा-पीछा नहीं किया। भाई आबिद अली शरमाये, किन्तु जोहरा बिलकुल भी नहीं शरमाई।

"वर्धा रहते हुए तारापुर, अकोला, अमरावती आदि जाने और रहनेका अवसर प्राप्त हुआ और परदेमें रहनेवाली बहिनोंसे मिलनेका भी अवसर मिला। मैंने देखा कि कट्टर समाज-सुधारकों कांग्रेसी नेताओं और आर्यसमाजी लोगोंके घरोंकी स्त्रियां भी पुरातनवादी घरोंकी स्त्रियोंके समान लम्बा-चौड़ा घूंघट घरोंमें भी किये रहती थीं। स्त्रियोंको स्त्रियोंसे परदा करते हुए देखकर मैं आश्चर्य-चकित रह गई। बहूको सास-जिठानी, जेठके लड़के तथा देवर तकसे परदा करते हुए देखनेका पहला अवसर मुझे नागपुरके सेठ पूनमचन्दजी रांकाके यहां मिला। परदा न करने वाली बहिनोंकी जो निन्दनीय चर्चा सुधारक-घरोंकी स्त्रियोंमें होती थी, उसको सुनकर दुःख होता था। समझाने-बुझाने पर भी वे परदा दूर करनेको तैयार न होती थीं और उनके उस समयके वेश-भूषा, रहन-सहन तथा विचारोंको देखते हुए यह कल्पना करना भी कठिन था कि वे कभी परदेका त्याग कर सार्वजनिक

जीवनमें पदार्पण करेंगी। यह बहुत सन्तोषकी बात है कि उनमेंसे अधिकांश आज परदेका त्याग कर सार्वजनिक-सेवाके मैदानमें पुरुषोंसे आगे खड़ी हैं। इससे यह भी पता लगता है कि हवा किस रुख बह रही है?

"१९२८ में मैं कलकत्ता चली आई। जीवन-कुटी (जयपुर) के संस्थापक श्रीहीरालालजी शास्त्री भी उन दिनों कलकत्तामें थे। आपके उद्योगसे परदा दूर करनेके उद्देश्यसे एक मित्र-मण्डली कायम हुई। परदा दूर किये हुए या करनेकी इच्छा रखनेवाले मित्र सपरिवार प्रति सप्ताह किसी मिलन स्थान पर मिला करते थे। यह उद्योग अधिक दिन तक जारी नहीं रह सका। अधिक दिन जारी रह सकता, तो परदा निवारण करनेके सम्बन्धमें कुछ अच्छा कार्य अवश्य हो जाता। तो भी कलकत्ताके मारवाड़ी-समाजमें परदा-विरोधी-आन्दोलनको जन्म देनेका सब श्रेय इस उद्योगके नाते श्रीहीरालालजीको है। साईमन-कमीशनके बहिष्कारके प्रदर्शनमें कुछ बहिनोंको शामिल करनेका उद्योग हम दो-चार बहिनोंने किया था, किन्तु हम उद्योग करने वाली बहिनोंके अतिरिक्त किसी और बहिनके दर्शन उस प्रदर्शनमें नहीं हुए थे। इसी प्रकारके दो-एक अन्य कार्योंमें भी यह अनुभव हुआ कि परदेके कारण घरके-बाहरके किसी कार्यमें बहिनोंका सहयोग मिलना असम्भव है। कलकत्ता-कांग्रेसकी स्वयंसेविकाओंमें नॉन-बंगाली एक भी महिला नहीं थी। इसका कारण यह नहीं था कि घरमें ही बन्द रहना उसको पसन्द था। १९२९ में भगतसिंह-डिफेन्स-फण्डके लिये 'भगिनी-समाज' के नामसे 'मेवाड़-पतन' नाटक केवल महिलाओं द्वारा, महिलाओं के लिये ही खोला गया था।

बड़ाबाजारके लिये वह पहिली घटना थी। उसका विरोध हुआ, निन्दा हुई और आलोचनात्मक चर्चा भी, किन्तु सफलता उसमें इतनी मिली कि नाटक-भवन स्त्री-दर्शकोंसे खचाखच भर गया था। बिहारके परदा-विरोधी-आन्दोलनकी देखा-देखी कलकत्तामें भी कुछ आन्दोलन हुआ और परदा-विरोधी-दिवस भी मनाया जाने लगा। उस आन्दोलनमें बाह्यदृष्टिसे कुछ विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु भीतर ही वह जो काम करता जा रहा था, उसका पता १६३० और १६३२ के आन्दोलनोंके अवसर पर मिला। जिस साहस, हिम्मत और धैर्यका परिचय स्त्रियोंने उस समय दिया, वह आश्चर्यजनक था। जिन वहिनोंने परदेके कारण अपने घरसे वाहर कभी पैर न रक्खा था, जिन्होंने समाचार-पत्र कभी हाथमें न लिया था और जो खादी तो क्या स्वदेशी कपड़ा भी न पहिनती थीं, उन्होंने देशसेवाके मैदानमें उतरनेके लिये एक ही क्षणमें परदा दूर कर दिया। इन दोनों आन्दोलनोंमें मुझको घर-घर घूमने, वहिनोंसे मिलने, उनसे बात-चीत करने और उनके साथ जेलमें पौने दो वर्ष रहने पर जो अनुभव प्राप्त हुआ, उससे मैं यह कह सकती हूं कि पुरुषोंकी ओरसे स्वीकृति या अनुमतिका केवल एक संकेत मिलने पर, सदा ही परदेकी कैदमें रहने वाली महिलायें भी अद्भुत और कल्पनातीत कार्य करके दिखा सकती हैं, परदा दूर करना तो उनके लिये बहुत ही मामूली बात है।

"बिहारके भूकम्पके बाद वहां विस्तृत भ्रमण और बिहार केन्द्रीय-सहायक-समितिके रामपुर हरि केन्द्रमें सेवा-कार्य करते हुए अत्यन्त कठोर परदेकी भयानक कैदमें रखी जाने वाली

बहिनोंसे मिलने और उनसे बात-चीत करने पर प्राप्त हुए अनुभवसे मैं पूरे दावेके साथ यह कह सकती हूं कि परदा दूर न करनेमें पुरुष दोषी हैं, स्त्री नहीं। समझदार, सुशिक्षित, कांग्रेस-कार्यकर्ता और साम्यवादी भाइयोंसे परदा दूर करनेके बारेमें खूब बातें हुईं। परदा दूर करना तो दूर रहा, बहुत भाई तो अपनी स्त्रियोंसे मुझे मिलने भी न देते थे। वे डरते थे कि कहीं उनकी स्त्रियोंको मेरी छूत न लग जाय और नयी रोशनीके प्रकाशकी कोई किरण उनके घरमें न पहुंच जाय। एक सुशिक्षित भाईने यहां तक कह दिया कि बाहरकी स्त्रियोंकी संगतिसे हम अपने घरोंकी स्त्रियोंको बिगाड़ना नहीं चाहते। बहुतोंको एकान्त कमरोंमें बन्द मैंने कई घरोंमें देखा। सास-ससुर या किसी भी व्यक्तिके सामने वे किसी भी कामके लिये उस कमरेसे बाहर नही निकल सकतीं। बाहरसे किसी स्त्रीके भी आने पर अपनेको एक कोनेमें छिपा लेना बिहारी स्त्रियोंके लिये साधारण बात है। जब उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना होता है, तब उनको बन्द गाड़ियोंमें वैसे ही ढाँप कर ले जाया जाता है जैसे कि बरसातमें बोरियोंको भीगनेसे बचानेके लिये टाटसे ढक कर ले जाया जाता है। बिहार जानेसे पहिले मेरा यह ख्याल था कि परदेकी कठोरता और कट्टरतामें मारवाड़ी सबसे आगे हैं, किन्तु वहांकी स्थिति देखनेके बाद पता चला कि बिहारी भाई परदे सरीखे सभी सामाजिक रीति-रिवाजोंको पालनेमें और सामाजिक-संकीर्णतामें उनसे भी आगे हैं। तब तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब मुझको यह बताया गया कि सात-आठ वर्षकी आयुकी भांजी भी मामाके सामने कमरेसे बाहर नहीं निकल सकती। इतनी कठोरता और कट्टरता पर भी

स्त्रियोंमें परदेकी कैदसे मुक्त होनेकी इच्छा जरूर है, किन्तु पुरुषोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करनेकी हिम्मत नहीं है। विहारी वहिनोंकी यह आम शिकायत थी कि आग्रह करने पर भी उनको पढ़ाने और उनके साधारण ज्ञानको बढ़ानेका पुरुषोंकी ओरसे कुछ भी यत्न नहीं किया जाता। बिहारी महिलायें अन्य प्रान्तोंकी महिलाओंसे गरीब और भोली हैं। यह गरीवी और भोलापन दूषण न रह कर आभूषण बन जाय, यदि उनको परदेकी कैदसे मुक्त करके थोड़ा-सा भी शिक्षित किया जा सके और उनके साधारण ज्ञानको कुछ उन्नत किया जा सके।

"देशपूज्य महात्मा गान्धीके रामपुरहरि केन्द्रमें पधारने पर केवल महिलाओंके लिये एक सभाका आयोजन किया गया था। विशेप यत्न करनेके बाद भी यह देखा गया कि वहुतसे पुरुप सभामें आती हुई अपनी स्त्रियोंको रास्तेमें से वापस लौटा ले गये। कुछने अपनी माता बहिन आदि सबको भेजा, किन्तु पत्नीको नहीं भेजा। घरकी 'बहू' होना ही उनका अपराध था। ऐसी एक वहिनने सभाके बाद अपने पतिको गान्धीजीके दर्शनों से वंचित रखे जानेकी शिकायतका पत्र लिखा था। वह पत्र देखनेका दुर्भाग्य जब मुझको प्राप्त हुआ था, तब मेरे हृदयमें स्त्रियों के प्रति पुरुपों के अन्याय और जोर-जबर्दस्तीके बिरुद्ध विद्रोहकी जो तीव्र भावना पैदा हुई थी, वह आज तक भी शान्त नहीं हुई है। यह मैं बार-बार पूरे जोरसे कहती हूं कि परदा-सरीखी कुरीतियोंके लिये पुरुष जितना दोषी है, स्त्रियां नहीं और उनको दूर करनेके लिये अधिक यत्न पुरुषोंकी ओरसे ही होना चहिये। स्त्रियां तो उनके संकेतकी प्रतीक्षामें एक पैर पर तैयार खड़ी हैं।"

(१७) परदा प्रथाकी जंजीर

श्रीमती तारादेवीजी अग्रवाल प्रयागके अग्रवाल समाजकी महिलाओंमें जागृति उत्पन्न करनेवाली पहिली महिला हैं। आप बाबू बेनीप्रसादजी अग्रवाल एम० ए० ऐडवोकेटकी धर्म पत्नी हैं। आपने परदा त्याग कर स्त्री समाजका बड़ा उपकार किया है, आपके परदा छोड़नेकी कहानी बड़ी दिलचस्प है:—

"मेरे व्याहके पूर्व मुझे अधिक शिक्षा नहीं मिली थी। मैं थोड़ा हिन्दी लिखना-पढ़ना जानती थी। कहनेको तो मैं एक एडवोकेट की लड़की थी, परन्तु मेरे पिता उस समयके इतने बड़े विद्वान् होते हुए जब कि एम० ए० की परीक्षामें बहुत कम लोग बैठते थे प्राचीन विचारके मनुष्य थे। और इसी कारण मुझे अंग्रेजीकी अपेक्षा हिन्दी ही की शिक्षा दी गई थी और वह भी किसी स्कूलमें नहीं वरन् घर ही पर। इन्हीं कारणोंसे मुझे नई रोशनीका ज्ञान बिलकुल ही न था। सौभाग्यवश मेरा व्याह भी ऐसे मनुष्यके साथ हुआ जिसने व्याहके कुछ ही दिनों बाद विश्वविद्यालयकी अन्तिम योग्यता प्राप्त कर ली। मेरे पिताकी अपेक्षा मेरे पति नवीन विचार के आदमी थे और व्याहके बाद ही वे मुझे दूसरी दुनियांकी ओर ले जानेका प्रयत्न करने लगे, पर मुझे इस ओर खींचना इतना आसान न था जितना कि वे समझते थे। मैं बड़ी ही शर्मीली थी और परदेको तो मैंने इतना अपना लिया था कि जिसका वर्णन मैं कर ही नहीं सकती। मेरे पति मुझे बहुत समझाते और अक्सर मेरे ऊपर नाराज भी हो जाते, परन्तु इसको छोड़ते हुए उतना ही भय मालूम होता था जितना कि कदाचित् मुझे शेरके सामने

छोड़नेमें भी न होता क्योंकि मेरे पतिके सिवा मेरे घरके सब लोग पुराने ख्यालके थे। मैं यही अक्सर विचारती कि यदि मैं ऐसा करूंगी तो लोग मुझे क्या कहेंगे और इस वातको सोचकर मैं कांपने लगती। लेकिन ये सब क्या थे मेरी अज्ञानतासे भरे हुए विचार। अपने पतिकी तमाम रुखाइयों और झिड़कियोंको सहन करते हुए भी मैंने परदेको न छोड़नेका ही निश्चय किया था। इन्हीं कारणोंसे मुझे घरके बाहर जानेका मौका बहुत कम मिलता था। संयोगसे एक दिन अपने पतिके साथ मुझे एक रिश्तेदारके यहां एक व्याहमें जाना पड़ा। वहां पहुंचने पर मैंने अपनी आदतके बिलकुल प्रतिकूल बातें पाईं। परदेका तो वहां नामोनिशान भी न था। वहां की तमाम स्त्रियोंमें नये विचारका संचार हो चुका था। मुझे देख कर वे लोग चकित हो गईं, विशेष कारण तो उनके चकित होनेका यह था कि मैं एक शिक्षित मनुष्यकी स्त्री होते हुए भी परदा करती थी। वहांके सब पुरुष और स्त्रियां मेरे इस तरहके परदे पर मेरे पतिकी हंसी उड़ाते थे और मेरे पतिको शिक्षित होते हुए भी पुराने विचारके आदमी बतलाते थे। मगर उन्हें क्या मालूम था कि इसका दोष मेरे ऊपर था, इसकी जवाबदेही मेरे सर पर थीं। स्त्रियां भी मेरी चुटकी लिया करतीं और परदेकी बुराई बतलाते तथा उसके फायदे बतलाते हुए मेरे ऊपर बुरी तरह आक्षेप कर समझाया करतीं। मैंने भी देखा कि ऐसा शुभ अवसर होते हुए भी मेरे पति मेरी इस आदतसे खिन्न रहते हैं। यह बात मेरे भी बर्दाश्तके बाहर हो गई और मैंने भी वहीं इसका दृढ़ संकल्प कर लिया कि जैसे भी होगा मैं अब इस भद्दी प्रथाको त्याग ही दूंगी, इसका श्री गणेश भी वहींसे हो गया। घर पर आते ही मैंने इस

कामको आरम्भ कर दिया। मुझे जो कठिनाई हुई उसका विस्तृत वर्णन मेरी ताकतके बाहर है, लेकिन तो भी इतना जरूर कहूंगी कि मैं सब घरवालोंकी निगाह पर चढ़ गई थी। कुछ स्त्रियां तो मेरे ही सामने मेरी इस आजादीकी निन्दा करतीं। कुछ मेरे पीठ पीछे मुझे निर्लज्ज और बेवकूफ़ कह कर सम्बोधित करतीं। कुछ तो यहां तक कह बैठती कि पढ़-लिखकर क्या करेंगी और समय-समयपर तिरस्कार करतीं। जब कि मैं कभी बाहर जानेको तैयार होती स्त्रियोंकी कानाफूसी मेरे बारेमें शुरू हो जाती। परन्तु मेरे पतिको इस बातसे अत्यन्त खुशी हुई और मैंने स्वयं अधिक नहीं केवल तीन ही महीनेके अन्दर एक अद्भुत आनन्द-का अनुभव किया, क्योंकि अब मैं स्वतन्त्रता पूर्वक अपने पतिके साथ आने-जाने लगी थी और कुछ दिनों बाद तो मैंने चद्दरका भी परित्याग कर दिया। यह मेरे घर वालोंके लिये असहनीय हो गया, परन्तु अपने निश्चयके आगे मैंने किसीकी परवाह नहीं की। और कुछ ही दिनों बाद हठीली समझ कर मेरा पीछा लोगोंने छोड़ दिया।

"इससे कम विरोध मेरा मेरे मायकेमें नहीं हुआ। कितनी हीं स्त्रियां मेरी माताजीसे जाकर मेरी शिकायत करतीं। मेरे पिताजीसे भी उनके मिलनेवाले जाकर कहते और किसी प्रकार मुझे फिर उसी जंजीरमें जिसको कि मैंने बड़े कठिन परिश्रमके बाद तोड़ा था, जकड़ दिये जानेके लिये कहते। कितने तो इसको इज्जतका प्रश्न बताते, परन्तु पिताजी अपनी असमर्थता बतलाकर इसको टाल देते।

"कहनेका तात्पर्य यह है कि आवश्यकतासे अधिक विरोध होते हुए भी मैंने इसकी परवाह न की और इस रोगसे मुक्त हो गई। पहलेकी अपेक्षा मेरे जीवनमें एक विशेष परिवर्तन हो गया और मानसिक लाभके साथ-साथ मुझे शारीरिक लाभ भी हुआ, जिसका वर्णन कमसे कम मैं नहीं कर सकती। मैं सभाओंमें आजादीसे जाती हूं और असहयोग आन्दोलनकी सभाओंमें तो मैंने जी खोलकर भाग लिया। लगभग दो साल हुए प्रयागमें अखिल भारतवर्षीय अग्रवाल महिला कान्फ्रेंसके अवसरपर जिसकी सभानेत्री श्रीमती लेखवती जैन थीं, प्रयागकी महिलाओं ने मेरे ऊपर स्वागत मन्त्रिणीका भार सौंप दिया था। उसमें मुझे महिलाओंकी सेवा करनेमें और महिलाओंसे परदा-प्रथाको तोड़ कर बाहर आनेके लिये कहनेमें जो आनन्द आया था वह मैं ही जानती हूं। इन सब विचारोंको सामने रखकर मेरा अन्य महिलाओंसे अनुरोध है कि शीघ्रसे शीघ्र इस प्रथाको तोड़कर बाहर आवे। उन्हें आरम्भमें कठिनाई अवश्य होगी परन्तु वह शीघ्र ही हल हो जायेगी और मानसिक लाभके साथ-साथ शारीरिक लाभ भी होगा।"

(१८) परदा स्त्रियोंकी उन्नतिमें बाधक है

श्रीमती पार्वती देवीजी बर्मनने कलकत्तेमें महिलाओंकी जागृतिमें बहुत भाग लिया है। आप प्रसिद्ध कार्यकर्ता बाबू भोलानाथजी बर्मनकी धर्मपत्नी हैं, परदा छोड़नेके सम्बन्धमें आपने अपना अनुभव इस तरह लिखा है :—

"मेरा विहाह ग्यारह वर्षकी अवस्थामें लखनऊमें हुआ था। मेरे माता-पिता बिलकुल पुराने विचारके थे, घरमें लड़कियोंके

पढ़ाने-लिखानेकी कोई चर्चा नहीं थी, इसीलिये मेरा भी पढ़ना-लिखना उस समय न हो सका। विवाह हो जानेके बाद मैं अपने ससुराल कलकत्ते आई तो एक बार नई बहू समझ कर मेरी बूढ़ी सासूजीने मुझे सबको दिखला दिया। दूसरे दिनसे यहाँ भी मुझे परदेमें ही रहना पड़ा। क्योंकि उस समय मेरी (खत्री) समाजमें परदेका पूरा रिवाज और ध्यान था। बिना चादर और घूंघटके बाहर किसी स्त्रीको निकलनेकी हिम्मत नहीं थी और परदा न करनेसे घोर निन्दा थी, इन्हीं कारणों और साहस की कमीसे मैं भी उस समय परदा त्यागनेमें असमर्थ थी।

"पतिदेव नये विचार रखते थे और उनसे जब मेरा प्रथम मिलन हुआ शायद उसी दिनसे मेरी शिक्षाका श्रीगणेश हुआ। कुछ स्वाभाविक भय, संकोच, लज्जा और दबावके कारण दिनमें पढ़ना तो होता नहीं था, रातमें जो कुछ थोड़ा सुभीतेका समय मिलता था, छिपा चुराकर पतिदेवकी सहायतासे पढ़ना-लिखना हो जाता था। लगातार कई वर्षों तक अधिक परिश्रम और अभ्याससे मुझे काफी ज्ञान प्राप्त हो गया और विद्यासे प्रेम हो गया। नई-नई शिक्षाप्रद पुस्तकें तथा समाचार पत्रोंमें देशके सार्वजनिक आन्दोलनकी चर्चा और स्त्रियोंको सार्वजनिक कार्योंमें भाग लेनेके लिये महात्मा गांधीके उपदेश आदि बातें नित्य प्रति पत्रोंमें देखते-देखते मेरे विचारोंमें क्रान्ति प्रारम्भ हो गई, और मेरे हृदयमें भी सार्वजनिक-सेवाकी भावना और इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

"सन् १९२१ के राजनीतिक आन्दोलनमें मेरे पतिदेवको एक वर्षके लिये जेल जाना पड़ा, उस समय मुझे काफी समय मिला जो

लिखने-पढ़ने तथा देशकी सेवामें व्यतीत हुआ। सार्वजनिक कार्य्य करनेवाली स्त्रियोंसे मेरा मेलजोल अधिक बढ़ने लगा और उनके बीच उठने-बैठने तथा साथमें रहनेसे मेरा झूठा भय, संकोच और लज्जा दूर हो गई और उसके फलस्वरूप बाहर निकलनेका भी साहस बढ़ता गया। उसी समय वसन्तोत्सवके अवसरपर सारस्वत खत्री-विद्यालयकी एक सभा हुई, जिसमें मैं भी गई, वहां श्रीमती रमादेवीजी विदुषीसे मेरा परिचय हुआ। वहां कुछ पढ़ी-लिखी बहिनोंकी सलाहसे वर्तमान स्त्री जातिकी अवस्था को सुधारनेके निमित्त एक महिला हितकारिणी नामकी संस्था निर्माण हुई, जिसमें मुझे सहायक मन्त्रिणीके पदका भार सौंपा गया। बादमें इसी संस्था द्वारा 'महिला महत्व' नामकी एक पत्रिका भी निकाली गई जिसकी मैं सहायक सम्पादिका नियुक्त हुई, जिससे मुझे उस समय पत्रमें लिखकर अपने विचार प्रकट करनेका भी अवसर मिलता रहा। लगातार उपरोक्त कार्योंमें संलग्न रहनेके कारण मेरा परदा एकदम शिथिल पड़ गया और मुझे इस बातकी भी परवाह न रही कि समाजमें मेरी कोई निन्दा करेगा या मेरी हँसी उड़ायेगा। मैं अपने उद्देश्य और विचारकी दृढ़ थी, इसी कारण मुझे सफलता प्राप्त करनेमें भी कोई अड़-चन न हुई।

सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलनमें मेरे पतिदेवको फिर छः मासके लिये जेल जाना पड़ा। इस बारके आन्दोलनमें हमारी मातायें और बहिनोंने बहुत अधिक संख्यामें भाग लेकर देशके सामने अपने त्यागका आदर्श उपस्थित किया। अनेक शिक्षित, सभ्य और ऊँचे घरानेकी बहनोंके झुण्डके झुण्ड नित्य प्रति देशकी

सेवाके लिये निकलते देखकर मुझसे भी न रहा गया। और मैं भी साहस करके एक दिन उनके दलमें जाकर शामिल हो गई। लगातार कई दिनों तक विलायती वस्त्रोंकी पिकेटिंग और अन्य प्रकारसे देशकी सेवा करनेके कारण मेरा परदा सदाके लिये जाता रहा। अब मैं स्वतन्त्रता पूर्वक जहाँ चाहूँ जा सकती हूँ। मुझे कुछ भय और संकोच नहीं है। सन् १९३३ में मारवाड़ी बहिनोंके उद्योगसे "परदा दिवस" का उत्सव मनाया गया। उसमें भी मैं गई। वहाँ कई हजार स्त्री-पुरुषोंकी उपस्थितिमें मुझे व्याख्यान देना पड़ा। वहाँ मुझे सफलता प्राप्त हुई जिससे मेरा साहस और भी बढ़ गया।

मैंने ऊपर जिन बातोंका उल्लेख किया है वे इतनी कठिन नहीं हैं कि जिन्हें साधारण स्त्रियाँ न कर सकें। परदा स्त्रियोंकी उन्नति के मार्गमें बड़ा बाधक है। देशके कार्यक्षेत्रमें जितने भी सुधारके कार्य हैं वे बिना स्त्रियोंकी सहायताके पूरे नहीं हो सकते और इसीलिये स्त्रियोंको पर्दा त्याग कर अपनी, अपने देश तथा अपने समाजकी उन्नति करना परम आवश्यक है। अनेक समाज और सभ्य घरानेकी स्त्रियोंसे बात-चीत करनेका अवसर मुझे मिला है। उनमें बहुतोंके हृदयमें उमङ्ग और उत्साह मौजूद है। बहुतेरी पर्दा त्याग कर बाहर आनेकी इच्छा रखती हैं। किन्तु पुरुषोंके दबाव, भय, संकोच और लज्जाके कारण उनका साहस और उत्साह भङ्ग हो जाता है, ऐसी बहिनोंसे मेरा निवेदन है कि एक अच्छे कार्य करनेमें जो कठिनाई आवे उसे सहन कर लें और इस बातकी परवाह न करें कि परदा छोड़नेमें समाज और आपसवाले उनकी हँसी उड़ायेंगे और निन्दा करेंगे। पुरुषोंसे मेरा निवेदन

है कि स्त्रियोंमें काम करनेकी लगन और सहन शक्ति बहुत है। यदि आप लोगोंकी तरफसे उनको अवसर दिया जाय तो देश और समाजका बहुत कुछ काम हो सकता है।"

ऊपरके वक्तव्योंके बाद परदा दूर करनेके उपायोंके सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। यदि ये वक्तव्य भी किसीके हृदयमें चैतन्य, स्फूर्ति और जागृति पैदा नहीं कर सकते, तो उस पाषाण हृदयमें कोई भावना पैदा करना संभव नहीं है। परदा दूर करनेके सम्बन्धमें ही नहीं, किन्तु महिलाओंकी सर्वाङ्गीण चहुंमुखी जागृतिके सम्बन्धमें भी इन वक्तव्योंसे यह पता लग जाता है कि हवा किस रुख बह रही है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सोडावाटरकी बोतलोंके डाट सरीखे कठोरसे कठोर अन्याय पूर्ण नियन्त्रणमें उनको सदाके लिये बांध रखनेका समय भूतकाल में विलीन हो चुका है। आशा है, उपरोक्त वक्तव्योंको पढ़नेवाले भाई-बहिन उनके मर्मको समझनेका पूरा यत्न करेंगे और उनसे पूरा लाभ उठायेंगे।

इस प्रकरणके बहुत बढ़ जानेपर भी जालन्धर-स्टेशनकी आंखों देखी एक घटनाको यहां देना अत्यन्त आवश्यक है। लाहौरकी ओरसे एक शिक्षित मुसलमान युवक ट्रेनसे आ रहे थे। उनकी सम्भवतः नवविवाहिता पत्नी भी उसी ट्रेनके जनाने डिब्बेमें सवार थी। गाड़ीके जालन्धर स्टेशन पर पहुंचने पर युवक लपक कर उस डिब्बेकी ओर गये। श्रीमतीजी उतरनेके लिये अपना बुरका संभालनेमें लगी हुई थीं। युवकने बुरका खींचा और जेबसे दिया-सलाई निकाल स्टेशनके प्लेटफार्म पर ही उसमें आग लगा दी। चारों ओरसे भीड़ जमा हो गई। स्टेशन और पुलिसके अधि-

कारी भी किसी दुर्घटनाकी आशङ्का कर वहां जमा हो गये। उस साहसी युवकने पूछनेपर बताया कि परदे या बुर्केके उस ढोंगको वह सहन नहीं कर सका कि जब किसी स्टेशनपर वह उसके पास जाता था, तब वह बुर्का करके दुबक कर बैठ जाती थी और जब वह अपने डिब्बेकी ओर चला आता था, तब वह मुंह खोलकर चारों ओर ताक-झांक करने लग जाती थी। उस ढोंगको घर पहुंचनेसे पहिले ही दूर कर देनेका निश्चय करके उसने बुर्केमें आग लगा दी। सन्दूक अपने सिरपर रख बाकी सामान श्रीमतीजीके सिपुर्द कर वह युवक स्टेशनसे बाहर चला और चलते हुए उसने कहा कि कि तुम जिस लज्जा, संकोच या झिझकसे बुर्का करती हो, उसको भी आज इस बुर्केके साथ ही आगमें डाल दो। जो युवक या बूढ़े लोग परदे या ऐसी ही अन्य कुरीतियोंको दूर करना चाहते हैं, उनको इसी सत्साहसका परिचय देना चाहिये और अपने निश्चयके अनुसार कार्य करनेमें तुरन्त लग जाना चाहिये। स्त्रियोंकी प्रगति या जागृतिको लेकर उनकी ओरसे पुरुषोंपर जो लांछन लगाया जाता है, उसको इसी प्रकार दूर किया जा सकता है—'नान्य पन्था विद्यतेऽमनाय।' उससे मुक्त होनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

६

कुछ आक्षेप और उनपर विचार

स्त्रियोंकी जागृति तथा स्वाधीनताकी चर्चा होते ही परदेके समर्थक सहसा घबरा उठते हैं। पश्चिमीय देशोंकी स्वाधीनताका अर्थ उनके लिये एकमात्र स्वच्छन्दता है। यह भ्रान्त धारणा उनके हृदयोंमें गहरा स्थान कर चुकी है कि स्त्रियोंकी इस स्वच्छन्दताके कारण पश्चिमके सब देश अनाचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचारोंमें डूबे हुए हैं। स्त्रियोंकी आजादी और उनकी शिक्षाकी बात सुनते ही उनकी आखोंके सामने पश्चिमके पतित आचारका यह काल्पनिक चित्र नाचने लगता है और वे यह समझ बैठते हैं कि परदेमें रहने वाली भारतकी नारी परदेके बाहर पैर रखने ही से वैसी ही स्वच्छन्द हो जायगी, देशमें तुरन्त भ्रष्टाचार फैल जायगा और वह गारत हो जायगा। उन्होंने दो अंगुल कपड़ेके परदेको स्त्रियोंके और इसीसे समस्त समाज तथा देशके आचार-विचारका बीमा समझ लिया है। अपनी इस कपोल-कल्पित भ्रान्त धारणाके सामने वे किसी युक्ति, तर्क और प्रमाणको सुनना नहीं चाहते। न वे अपने चारों ओरकी परिस्थिति का, न इतिहास और न संसारकी गति-विधिका कुछ अध्ययन और अनुशीलन करना चाहते हैं। वे परदानशीन समाजोंकी भीतरी अवस्थाकी तुलना भी उन समाजोंकी अवस्थासे नहीं करना

चाहते, जिनमें परदेका नामोनिशान नहीं है। वे परदेके भीतर होने वाले पापपूर्ण व्यवहार और पतित आचारको देखते और जानते हुए भी स्वीकार नहीं करना चाहते। ऐसे लोगोंको कुछ समझाना और मनवाना कठिन है। फिर भी अच्छा हो यदि वे अपना दुराग्रह छोड़कर कुछ विचार कर सकें। अपने ही देशमें महाराष्ट्रके द्विज लोगोंमें परदा बिलकुल नहीं है, मद्रास और इसी प्रकार गुजरातके अधिकांश प्रदेशमें भी परदा नहीं। यह मानना होगा कि परदेके बन्धनसे मुक्त इन प्रदेशोंके स्त्री-पुरुषोंके सदाचार का दर्जा परदा करने वालोंकी अपेक्षा कुछ ऊँचा है। उनके आचार-विचारमें भारतके पुरातन आदर्शकी झलक कुछ अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है। शील, संकोच और लज्जा, जो स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण हैं, उनकी स्त्रियोंमें कुछ अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। वहांकी स्त्रियां स्वछन्द, उद्दण्ड और मर्यादा-रहित नहीं हैं और न उनका सदाचार ही एकदम नष्ट हो गया है। यह तो दूसरे प्रान्तों और दूसरे समाजोंकी बात हुई, किन्तु परदानशीन प्रान्तों और समाजोंके गांवोंमें रहने वाले गरीब स्त्री-पुरुषोंमें, जिनको आजकलके सभ्य बाबू 'गँवार' कहते हैं, परदा नहीं है। उनका व्यवहार कितना सरल है और आचरण कितना शुद्ध ? उनकी स्त्रियां हर तरह स्वतन्त्र हैं, अपने बाल-बच्चों तथा घर वालोंके सुख-सुभीतेकी चिन्तामें वे सदा मग्न रहती हैं और गृहस्थकी सुख-समृद्धिको बढ़ानेके लिये गरीबीके साथ युद्ध करनेको पुरुषोंके साथ हाथ बटानेमें सदा लगी रहती हैं। श्रीमानोंकी परदानशीन महिलाओंकी तरह वे निठल्ली नहीं रहतीं। दावेके साथ कहा जा सकता है कि वे उनकी तरह भोग-विलासमें लिप्त नहीं रहती,

सहजमें काम-क्रोध-लोभ-मोहकी शिकार नहीं बनतीं और लज्जा अथवा संकोच उनमें स्वाभाविक होता है, बनावटी या दिखावटी नहीं।

अपने हठ और दुराग्रहमें फंसा हुआ पुरुष यह भूल गया है कि स्त्री स्वभावसे ही पवित्र है। उसकी पवित्रता कृत्रिम नहीं है, किन्तु वह उसका स्वाभाविक गुण है। जैसे मनुष्य स्वतन्त्र पैदा किया गया है और वह स्वयं अपनेको पराधीन बना लेता है, वैसे ही स्त्री और पुरुष दोनों जन्मके साथ आचार-विचारकी दृष्टिसे पवित्र, सदाचारी और पापसे आलिप्त होते हैं। शिक्षा, संगति और परिस्थितिसे उनका आचार-विचार बनता है। परदेकी बेहूदगीसे समाजमें जो परिस्थिति पैदा हो गई है, उसमें स्त्री और पुरुष दोनोंका ही आचार पतित होना सहज हो गया है। बिगड़ी हुई इस परिस्थितिका सुधार न करके पुरुष केवल स्त्रियोंको परदेकी कैदमें रखकर समाजके सदाचारकी रक्षाके जिस यत्नमें लगा हुआ है, उसमें उसका सफल होना सर्वथा असम्भव है। इससे सुधार तो होता ही नहीं, किन्तु बिगाड़ बढ़ता जाता है और समाजके सदाचारको पतित बनाने वाली परिस्थिति दिन-पर-दिन अधिक जटिल और विकट होती जा रही है। परदा-प्रथा द्वारा प्रकृतिकी अवहेलना करके उसके दुष्परिणामसे कैसे बचा जा सकता है? प्रकृतिकी अवहेलनासे पैदा होने वाले महान अनर्थोंमें अनाचार मुख्य और अन्यतम है। जिस शिक्षा और संगतिसे उनका सदाचार बन सकता है, उसका द्वार उनके लिये बन्द करके केवल कपड़ेका परदा तानकर उनको और समाजको सच्चरित्र नहीं बनाया जा सकता है? किसी भी आदर्शकी उपयोगिताकी परीक्षा व्यव-

हारसे की जाती है। समाजके सब नियमों और बन्धनोंका आदर्श केवल स्त्रीके लिये रह गया है। पुरुषके लिये न कोई नियम है और न बन्धन। स्पष्ट ही यह अन्याय पूर्ण व्यवहार है। मिथ्यासे सत्यकी सृष्टि नहीं की जा सकती और अन्यायसे न्यायकी रक्षा नहीं हो सकती। इसीलिये समाजमें प्रचलित अन्यायपूर्ण व्यवहार से समाजके सदाचारका आदर्श न सुरक्षित रहा और न रह सकता है। बिहाररत्न श्रीयुत राजेन्द्र प्रसादजीने बिहारके परदा-निवारण-आन्दोलनकी चर्चा करते हुए ठीक लिखा था "कि वे लोग कह बैठते हैं कि हमारी देवियोंका चरित्र परदेमें रहनेसे ही बचा है।" यह एक अकारण और अत्यन्त नीच लांछन है, जिससे हमको लज्जा आनी चाहिये। हमारी देवियोंकी पवित्रता और पातिव्रत पिंजड़ेमें बन्द रहनेकी चीज नहीं है, वह तो उनके रग-रगमें और रक्तके एक-एक बूंदमें भरा है। पुरुषोंकी ओरसे ही अत्याचार और व्यभिचार होता है, जिसके लिये उनको ही सजा मिलनी चाहिये। पर, 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' वाली बात है। परदा तोड़ देने से हम सहस्रों वर्षकी सभ्यताको नहीं हटा सकते। परदा छोड़नेका यह अर्थ नहीं है कि हमारी स्त्रियां शील और मर्यादाकी सीमाका उल्लंघन करें। हमें तो उनको यह मौका देना है कि वे भी अपने स्वास्थ्यको सुधार कर घरेलू धंधोंमें पुरुषकी सहायता कर सकें और जिनमें योग्यता हो, वे देशहित और समाज हितके कार्योंमें उनका हाथ बटा सकें। अपने समाजकी आधी संख्याको सभी अधिकारों और सेवाओंसे वंचित रखना न तो बुद्धिमत्ताका परिचायक है और न ज्ञान का। यह अन्ध परम्पराका ही प्रभाव है, जो कि कुछ धीमी आवाज इस आन्दोलनके विरुद्ध भी उठ रही
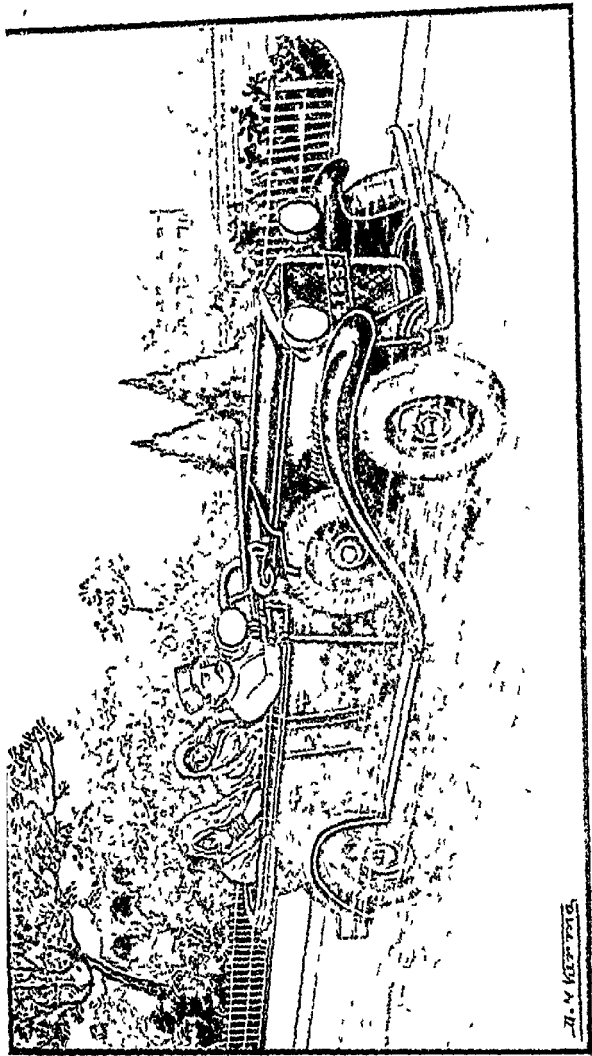
खुली मोटर पर बैठी घूंघट काढ़े हुए परदानशीन मारवाड़ी महिला।

है। पर, यह अन्ध परम्परा बहुत दिनों तक अब चलनेकी नहीं। मनोवृत्ति बदल रही है। इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है। शीघ्र ही उसका सुन्दर फल चारों ओर देखनेमें आवेगा।

स्त्रियोंको दुर्बलताकी शिक्षा देकर आसुरी शक्तिकी उपासनामें लगा हुआ हिन्दूसमाज केवल दो अंगुल कपड़ेके सहारे समाजके सदाचारको सुरक्षित समझे हुए है। उलटी समझका इससे बढ़िया उदाहरण कहीं ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल सकेगा। कुटियाके चारों ओर रेखा खींच जैसे लक्ष्मणने सीताको सुरक्षित समझ लिया था, वैसे ही हिन्दू-समाजने और उनके भाई मुसलमानोंने भी परदेके सहारे स्त्रियोंकी लज्जा, शील तथा मर्यादाको और सारे समाजके सदाचारको सुरक्षित समझ लिया है। उस रेखाकी सीमामें वहां सीता सुरक्षित न रह सकी थी और यहां स्त्रियोंके स्वाभाविक सद्गुणोंके साथ-साथ सामाजिक-सदाचार भी सुरक्षित नहीं रह सका। यह सत्य है कि परदा-प्रथाके ही कारण हम लोगोंका नैतिक पतन चरम-सीमाको पहुंच चुका है, और सदाचारके सम्बन्धमें हमारा कोई दावा पेश करना केवल कोरी विडम्बना अथवा निरी आत्मवंचना है। जिस देश या समाजमें दुधमुंही बच्चियोंके विवाह धर्मके नाम पर किये जाते हैं, युवावस्था प्राप्त होनेसे पहिले ही गर्भ धारण करनेसे जिसमें हजारों स्त्रियां अकालमें कालका ग्रास हो जाती हैं, पतिका नाम तक न जानने वाली तथा उसका मुंह तक न देखने वाली बालविधवाको भी जिसमें बलात् वैधव्यका जीवन बितानेको विवश किया जाता है, विधवाओं तथा कुंवारोंकी बढ़ती हुई संख्याने जिसके आचार-विचारकी मर्यादाके लिये भयानक समस्या उपस्थित की हुई है, बेहूदा

धार्मिक तथा सामाजिक बन्धनोंके ही कारण लाखों स्त्रियां अपने पेटके लिये पुरुषोंकी काम-वासनाकी पूर्ति करती हुई जिसमें पापमय जीवन बितानेको मजबूर हो रही हैं, जिसमें पुरुषको तो स्वछन्द आहार-विहारके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है किन्तु स्त्रीके लिये पग-पग पर कठोर नियम तथा बन्धन बना दिये गये हैं, इस अवस्थामें भी जिसमें पुरुषके घोर नैतिक अपराधकी सब सजा स्त्रीको ही भोगनी पड़ती है और उसको साधारण-सी अवज्ञापर एक-दम घर, जाति तथा समाजसे बहिष्कार कर दिया जाता है, किन्तु पुरुष उससे भयानक पाप करता हुआ भी जिसमें 'पंच' या 'चौधरी' बना रह सकता है, उसके लोग सदाचारी होनेका क्या दावा कर सकते हैं ? समाजकी वास्तविक स्थितिको छिपाकर हम अपनेको ही धोखा देते और अपनी हानि करते हैं। न मालूम कबसे हिन्दू-समाज इस प्रवंचना तथा विडम्बनामें उलझा हुआ अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी चलानेकी मूर्खता करता चला आ रहा है ?

स्त्री–पुरुषके पारस्परिक-सम्बन्धका वैज्ञानिक विवेचन करते हुए एक लेखकने सदाचारकी झूठी दुहाई देने वालोंके सम्बन्धमें लिखा है कि "ऐसे लोग अपने कार्यों और विचारोंमें शान्त होनेका दावा तो करते हैं, किन्तु वे इतने असहिष्णु और छुई-मुई होते हैं कि छोटी-से छोटी और बहुत दूरकी प्रेरणा भी उनकी वासनाको सहजमें जगा देती है। वे इतने अधिक संशयशील होते हैं कि बात-बातमें आशङ्का अनुभव करते रहते हैं। दूसरोंकी हर एक हरकतको वे शङ्काकी दृष्टिसे देखते हैं और अपनेको हरदम वे लज्जाशील बतानेका यत्न करते हैं। वह शङ्का उनकी अपनी ही

अनघड़ वासनाका परिणाम होती है। यदि कहीं दूर भी उनकी कभी अपनी उस वासना या कमजोरीकी छाया दीख जाती है, तो वे तुरन्त उछल पड़ते हैं। दूसरेकी नीयत कितनी भी साफ क्यों न हो, उस पर लाछन लगानेको वे सदा तत्पर रहते हैं। दूसरेका निर्दोष होना उनकी दृष्टिमें केवल बहाना होता है, क्योंकि उनका अपना ही सारा व्यवहार वैसा होता है। वे अपनी वासना और कमजोरीको इसी प्रकार छिपाते हैं। ऐसे ही लोग कहते हैं कि युवकों और युवतियोंमें ऐसी भावनाये और इच्छायेभरी रहती हैं, जो किसी समय सुरक्षित रहनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। दोनों परस्पर प्रकाश और अन्धकारके समान विरोधी हैं। जहां परदा है वहां सदाचारका सुरक्षित रहना प्रायः असम्भव है। सदाचारका उसके साथ ऐसा कोई अप्रत्यक्ष सम्बन्धी भी नहीं है।

सदाचारके सम्बन्धमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि वेश-भूषा और खान-पानके समान सभी देशों और सभी समाजोंमें आचार विचारका आदर्श एवं भावना भी भिन्न-भिन्न होती है। हम पश्चिमकी स्त्रियोंकी नंगी गर्दन और नंगी भुजाके पहरावेको तुरन्त अश्लील कह देते हैं, किन्तु अपने देशकी परदानशीन स्त्रियोंका नंगे पेट और नंगी पीठका एकाक्षी परदादर्शक पहिरावा हमको कभी अखरता नहीं! हम उनकी तलाककी प्रथाको पापाचार समझते हैं, किन्तु अपने यहाकी बाल-वृद्ध-बेजोड़ तथा बहु-विवाहकी प्रथा हमको कुप्रथा तक प्रतीत नहीं होती। पश्चिमका 'डान्स' हमारी दृष्टिमें पाप है, किन्तु अपने यहां की देवदासी प्रथा हमारे लिये धर्म है। अपने देशके भी एक ही समाजके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके लोगोंकी भावना और आदर्शमें भी कितना

भेद है? काश्मीरके ब्राह्मणोंको आचार-विचारकी कितनी ही बातोंमें दक्षिणके ब्राह्मणोंको अनाचार दीख पड़ता है। पञ्जाबके खत्रियोंके बहुतसे व्यवहारको बिहार तथा संयुक्तप्रान्तके खत्री भ्रष्टाचार बताते हैं। बङ्गालके द्विजोंका मांस-मच्छी खाना दूसरे प्रान्तोंके की दृष्टिमें पाप है। सिख जिसे धर्म समझते हैं, अन्य हिन्दुओंके लिये वह धर्म नहीं है। जैनीकी आस्तिकता दूसरोंके लिये नास्तिकता है। सनातनीका पूजा-पाठ आर्यसमाजीके लिये ढोंग और पाखण्ड है। एक दूसरेकी दृष्टि, विचार, भावना और आदर्शमें इतना अधिक अन्तर रहते हुए हम अपनेको धार्मिक तथा सदाचारी और दूसरेको व्यभिचारी तथा पापी कैसे कह सकते हैं? यह भी एक प्रकारकी आत्मवंचना और बिडम्बना है, जो मनुष्यको पतनकी ओर ले जानेवाली है। उससे यत्नपूर्वक बचना चाहिये।

इस समयकी शिक्षित एवं जागृत महिलाओंकी ओर अंगुली उठा कर भी परदा-विरोधी-आन्दोलनका विरोध किया जाता है। उनके फैशन, रहन-सहन और खुले व्यवहारकी इतनी निन्दाकी जाती है कि स्त्रीको परदेकी कैदमें अन्धी, पंगु, असहाय और दासी बनाकर रखना ही श्रेयस्कर समझा जाता है। उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता निस्सन्देह निन्दनीय है, किन्तु वे परदा दूर करनेके परिणाम नहीं हैं। वे दुष्परिणाम हैं आदर्शहीन उस शिक्षाके, जो हमको पश्चिमका केवल अन्धा अनुकरण करना सिखाती है। न इस शिक्षा द्वारा हमारे स्वाभाविक सद्गुणोंका विकास होता है और न हमारे सामने पश्चिमके सद्गुणोंका ऊंचा आदर्श ही उपस्थित किया जाता है। साहस, धैर्य-त्याग तथा देशभक्ति आदिके

उनके सद्गुण हममें पैदा नहीं होते, किन्तु फैशन, चटक-मटक तथा शान-शौकत आदिके दुर्गुण तुरन्त पैदा हो जाते हैं। पादरियोंने जिस शिक्षाका सूत्रपात यहां किया था, उसका उद्देश्य भारतीयताको मिटा कर यहाँ ईसाय्यतकी स्थापना करना था। उससे किसी शुभ परिणामकी आशा नहीं की जा सकती थी। सरकारी शिक्षाका सूत्रपात किया गया था, शासनकी मैशीनरीके लिये कल-पुर्जे तैयार करनेको। लार्ड मैकालेने उसके बारेमें स्पष्ट लिखा था कि "हमको (अर्थात्—अंगरेजोंको) शिक्षाके सम्बन्ध में सब उद्योग भारतमें एक ऐसी श्रेणी पैदा करनेमें लगा देने चाहियें जो शासक और शासितोंके बीच दुभाषियेका काम करनेवाली हो और जो रूप-रंगमें भले ही भारतीय रहे, किन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, नैतिक-आदर्श और भावना तथा कल्पनामें भारतीयता को सर्वथा तिलांजलि देकर पूरी तरह अंगरेजी रंगमें रङ्ग जाय।" इंगलैण्डके भूतपूर्व महामंत्री मि० मैकडानेल्ड तकने इस शिक्षाका लक्ष्य भारतीयोंको दोगले अंगरेज बनाना बताया है। ऐसी शिक्षा से किसी अच्छाईके प्रकट होनेकी आशा क्या की जा सकती थी? उसका यह स्वाभाविक परिणाम हो रहा है कि भारतीय आदर्श नष्ट होकर युवकों और युवतियोंमें दासताकी अनुदार वृत्ति पैदा हो रही है। आदर्श-भ्रष्ट करनेके साथ-साथ वह उनको आचारभ्रष्ट भी कर रही है। इतने पर भी लड़केको कोई नौकरी दिलवा कर कमाऊ पूत बनानेकी आशासे उसके सब फैशन और स्वछन्दताको सहन किया जाता है। आधा पेट खा, उधार ले और जायदादको गिरवी रखकर भी उसको पतित बनानेवाली उसकी सब फिजूल-खर्चीको पूरा किया जाता है। विरोध किया जाता है स्त्रियोंकी

शिक्षाका और उनके परदेसे बाहर आनेका, केवल इसलिये कि अनन्त कालसे वे पुरुषकी दासी रही हैं और अनन्त काल तक उनको उसकी दासी ही बना रहना चाहिये। इससे अधिक अन्याय और स्वार्थ क्या हो सकता है ? इस आक्षेपका प्रतिकार करते हुए भी शिक्षित बहिनोंसे और उनकी जागृति एवं प्रगतिके समर्थक पुरुषों विशेषतः नवयुवकोंसे इस सम्बन्धमें दो शब्द कहने आवश्यक प्रतीत होते हैं। बिहार-महिला-विद्यापीठके संस्थापक श्रीयुत रामनन्दन मिश्र गत-नौ-दस वर्षोंसे महिलाओंकी जागृति एवं परदा-विरोधी-आन्दोलनमें लगे हुए हैं। उन्हींके शब्दोंमें हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि "अब उनकी जिम्मेवारी बड़ी ही गम्भीर और जोखिम भरी है। उनके उठने-बैठने, उनकी बोल-चाल उनके रहन-सहन आदि सभी बातोंको ओर लोगोंकी आंखें लगी हुई हैं और वे बड़ी तीखी आलोचनात्मक दृष्टिसे उनकी ओर देख रहे हैं। उनको बहुत विचार कर और फूंक-फूंक कर पैर उठानेकी जरूरत है। जिन समाजोंमें परदा नहीं है, उनमें स्त्री-पुरुषके सम्बन्धको लेकर ऐसी परिपाटियां बनी हुई हैं कि उनपर अंगुली उठानेका कोई सहजमें साहस नहीं कर सकता। परदा दूर करने के बाद उन समाजोंमें जिनमें परदेका रिवाज अत्यन्त कठोर है, ऐसी परिपाटियोंको अभी कायम करना है। पूर्ण स्वतन्त्रता और पुरुषके समान अधिकारका यह अर्थ नहीं है कि हम स्त्री-पुरुषके परस्पर सम्बन्धको भुलाकर विवाह-बन्धनको भी ढकोसला कहने लग जांय। लज्जा, शील और मर्यादाका एकदम उल्लंघन कर दें। स्त्रियोंकी जागृतिके समर्थक स्त्री और पुरुष दोनों को ही अपने व्यवहार पर पूरा अंकुश रखना चाहिये, ऊंचीसे ऊंची मर्यादाको

निभाना चाहिये और कठोरसे कठोर संयमका पालन करना चाहिये।" उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने व्यवहार द्वारा स्त्रियों के प्रति कोई गलतफहमी न पैदा होने दें, वे अपने स्वाभाविक सद्-गुणोंपर पश्चिमकी गन्दगी न चढ़ने दें और अपनेमें गुलामीकी अनुदार वृत्ति न पैदा होने दें। यह वे सदा याद रखें कि परदा-निवारणका आन्दोलन पश्चिमका अन्धा अनुकरण नहीं है, अपितु भारतीय आदर्शकी रक्षाके लिये उसका जन्म हुआ है। उसकी सफलता बहुत कुछ उनके व्यवहार पर निर्भर है। उनको अपने व्यवहार द्वारा अन्य बहिनोंकी जागृति तथा प्रगतिके विरोधके लिये कोई कारण या बहाना बनानेका मौका उन पुरुषोंको न देना चाहिये, जो सदा उसकी खोजमें लगे रहते हैं।

सनातन-प्रथा और धर्मकी मर्यादाकी दुहाई देकर परदा-विरोधी आन्दोलनका विरोध करने वालोंसे कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि परदा सनातन या अनादि कालीन नहीं है और धर्मके साथ तो उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस पर भी यदि उसके सनातन और धर्मका अङ्ग होनेका आग्रह किया जाता है, तो यह याद रखना चाहिये कि परदा तो जाने ही वाली कुप्रथा है और उसको बनाये रखनेकी ताकत किसीमें भी नहीं है। वह जरूर नष्ट होगी और उसके साथ वह सनातनता और धर्म भी नष्ट होगा, जो उसका समर्थक है। स्वर्गीय पण्डित मोतीलालजी नेहरूने बिलकुल ठीक कहा था कि—"धर्मका आदर्श अब चाहे कुछ भी हो, इस समय तो वह हमारे जीवनमें अन्धविश्वास, संकीर्णता, अनुदारता, असहिष्णुता तथा स्वार्थका कारण बना हुआ है और उन सद्गुणोंकी हत्याका

हेतु बना हुआ है, जो समाजके लिये स्वास्थ्यकर हो सकते हैं। वह अपनेको भिन्न लोगोंसे घृणा करना सिखाता है और उसके पवित्र नाम पर सैकड़ों पाप किये जाते हैं। धर्मकी शिक्षा मनुष्यको मनुष्यसे मिलानेके लिये है, उसको पास-पड़ोस वालोंसे सहयोग सिखानेके लिये है और सब समाजकी भलाईसे ही अपनी भलाई अनुभव करनेके लिये है। वह व्यक्तिगत स्वार्थका अन्त कर मनुष्यकी शक्तिको सार्वजनिक भलाईके लिये संगठित करने वाला है। इस समयका धर्म तो समाजमें भेद-भाव पैदा कर उसको विशृङ्खल बना रहा है। वह मनुष्यों ही में परस्पर कृत्रिम बाधायें पैदा कर रहा है और राष्ट्रके स्वास्थ्यप्रद और संगठित जीवनके विकाशमें बाधक हो गया है। इस प्रकार धर्मका पतन हुआ है और उसके परिणाम-स्वरूप समाज, देश तथा राष्ट्रका भी पतन हुआ है। ऐसे धर्मको अलग कर देना ही इस समयकी आपत्ति से बचनेका एक मात्र उपाय है।" समाज-सुधारके कार्योंका विरोध करते हुए धर्मकी जितनी अधिक दुहाई दी जाती है, धर्मके प्रति उतनी ही उदासीनता तथा उपेक्षा समाजमें बढ़ती जाती है और उसका नाश भी होता जाता है। यह निश्चित है कि धर्मकी जो दुहाई सती-प्रथाको कायम नहीं रख सकी, जो विधवा-विवाह की प्रगतिको नहीं रोक सकी, जो बाल-वृद्ध-बेजोड़ विवाहों सरीखी अन्य अनेक कुप्रथाओंके विनाशमें बाधक नहीं बन सकी और जिसके रहते हुए भी स्त्री-शिक्षाका आन्दोलन जलकी वेगवती धाराकी तरह आगे बढ़ता जा रहा है, वह स्त्रियोंकी जागृतिका भी विरोध नहीं कर सकेगी और उसके द्वारा परदे सरीखी अनुचित, पापपूर्ण तथा कुत्सित प्रथाको भी कायम नहीं रखा जा सकेगा।

इसलिये सनातनता और धर्मके नामसे किये जाने वाले विरोधका न कुछ मूल्य है और न महत्व।

यह भी कहा जाता है कि हम क्या करें, स्त्रियाँ परदा दूर करना नही चाहतीं। इसमें सन्देह नहीं कि घरकी बूढ़ी स्त्रियां नहीं चाहतीं कि परदा दूर हो। इससे उनकी शासन-सत्ताका भी तो अन्त होता है। पुरुषोंके समान वे भी तो अपने शासनके अधिकारोंको कम नहीं होने देना चाहतीं। शासनका नशा ही ऐसा है कि वह शासकको मदांध बना देता है। वह अपने अन्याय, स्वार्थ और अत्याचारको कभी छोड़ना नहीं चाहता। इस लिये बूढ़ी स्त्रियोंके अन्धे शासनमें रहने वाली युवतियोंसे पूछना चाहिये कि परदेको दूर करना चाहती हैं कि नहीं? घरके शासन-सूत्रकी वागडोर हाथोंमें आते ही स्त्री अपनी युवावस्थाको भूल जाती है, किन्तु उस अवस्थामें भी यदि वह उस दिनको याद कर सके, जिस दिन उसने परदेके घरमें प्रवेश किया था, तो उस को आज भी यह अनुभव हो सकेगा कि परदेकी प्रथा कितनी भयानक, अस्वभाविक, अन्याय-मूलक और पापपूर्ण है। उस दिनकी याद करके वह भी परदेका विरोध अवश्य करेगी। परदेका यही तो सबसे बड़ा अभिशाप है कि उसने स्त्रियोंकी अनुभव-शक्ति पर भी परदा डाल दिया है। आज यदि परदेकी गुलामीको अनुभव करके वे उसको दूर नहीं करना चाहतीं; तो पुरुषको ही उसके लिये लज्जित होना चाहिये। पुरुषों द्वारा कायम की हुई इकतर्फा व्यवस्थाके लिये इससे अधिक भारी दूसरा कोई लॉंच्छन नहीं हो सकता। वह समय चला गया, जब कि गुलामीको यह कह कर कायम रखा जा सकता था कि गुलाम

स्वयं ही स्वतन्त्र नहीं होना चाहता। अमेरिकासे गुलामीकी प्रथा गुलामोंके स्वतन्त्र होनेकी इच्छा न होने पर भी उठ गई। वेश्या-वृत्तिको कायम रखनेके लिये यह कोई युक्ति नहीं हैं कि वेश्यायें ही उस पापमय जीवनको छोड़ना नहीं चाहतीं। फिर परदेके सम्बन्धमें यह तर्क क्यों पेश किया जाता है? परदा-प्रथाके वर्तमान व्यवहारसे भी इसका समर्थन नहीं होता। जिन बड़ों-बूढ़ोंसे परदा करना आवश्यक समझा जाता है, उनसे यदि परदा न किया जाय, तो वे इसमें अपना अपमान समझने लगते हैं। कुलकी मर्यादा तुरन्त नष्ट हो जाती है और परदा न करनेवाली स्त्रीकी जहाँ-तहां निन्दात्मक चर्चा होने लगती है। परदेके साथ मानापमानकी भावना, कुल-मार्यादाकी झूठी कल्पना और लोक-निन्दाके भयानक व्यापारके रहते हुए उसको स्त्रीकी इच्छाका विषय बताना स्त्रीके प्रति ऐसा अन्याय है, जिसको पुरुषने अपना अन्याय छिपानेके लिए वैसे ही गढ़ा है, जैसे कि एक झूठको छिपानेके लिये और अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं। पुरुषको स्त्रीपर अपनी सत्ता कायम रखनेका मोह छोड़कर कुछ विचारसे काम लेना चाहिये और ऐसे निराधार तर्क-वितर्कसे अपने अन्याय तथा स्वार्थको कायम रखनेकी व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जब मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र सरीखा समर्थ और प्रतापी सम्राट् लोक-निन्दाके भयसे अग्नि परीक्षाके बाद भी सती-साध्वी सीताका गर्भावस्था होनेपर भी त्याग कर देता है, तब उस अबला का क्या कहना है, जिसको वंश-परम्परासे परदेकी कैदमें रखकर एक दम असहाय बना दिया गया है। वह यदि लोकनिन्दाके भयसे परदा दूर नहीं कर सकती, तो यह कोई ऐसा कारण नहीं,

जिससे परदा सरीखी जघन्य एवं कुत्सित प्रथाका समर्थन किया जाय।

इसी प्रकार यह भी पूछा जाता है कि असभ्य और अशिक्षिता स्त्रियां परदेके बाहर आकर क्या करेंगी? लोक-व्यवहारका जिनको कुछ ज्ञान नहीं, जो बात-चीत करना नहीं जानतीं और संसारके ऊँच-नीचसे जो सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वे परदा दूर करके क्या कर सकेंगी? पुरुष ऐसा पूछकर अपनी ही अज्ञताका परिचय देता है। परदा विरोधी-आन्दोलनका यही ध्येय है कि स्त्रियोंकी असभ्यता और अज्ञानता दूर करके उनको लोक व्यवहारकी शिक्षा दी जाय, समाजमें उठना-बैठना सिखाया जाय और संसारके ऊँच-नीच से उनको अवगत किया जाय। जिस अवस्थासे स्त्री जातिका उद्धार करनेका यत्न किया जा रहा है, उसीको पेश करके उसकी प्रगतिका विरोध करना तर्क-सम्मत अथवा युक्ति-संगत नहीं है। यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई माता-पिता गुरुके पास जाकर अपने लड़केको पढ़ानेका विरोध यह कह कर करें कि 'गुरुजी, हमारा लड़का क्या पढ़ेगा, वह तो कुछ भी पढ़ा-लिखा नहीं है?' इस अवस्थाके पैदा करनेका कारण क्या है? यही परदा तो, जिसको दूर करनेका आन्दोलन हो रहा है। कारणको दूर करनेका विरोध उसीके कार्य या परिणामसे नहीं किया जा सकता। स्त्रीको 'अबला' कह कर, पुरुषसे हीन दिखा कर और अपनी रक्षामें उसको असमर्थ बता कर परदा-प्रथाका समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सब उस परदा-प्रथाका दुष्परिणाम है और इसको दूर करनेके लिये ही उसको दूर करना अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य हो गया है।

बलिहारी है उन लोगोंकी समझ की, जो स्त्रीको परदेके भीतर रख कर उसके सौन्दर्यकी रक्षा करना चाहते हैं और पति-पत्नीके प्रेम-सम्बन्धको सुदृढ़ करनेकी आशा रखते हैं। सौन्दर्यका अर्थ यदि वह पीलापन है, जो रक्तहीन रोगी देहका द्योतक है, तो बात दूसरी है। नहीं तो सब अनुभवी डाक्टर इस बारेमें एकमत हैं कि परदा स्त्रियोंके स्वास्थ्य का घातक, उनकी अल्पायुका कारण और क्षय आदि रोगोंका घर है। स्त्री-समाजका यह दुर्भाग्य है कि सब समाजके लिये दोषपूर्ण बातों को भी उसके लिये गुणकारी और लाभप्रद बताया जाता है। रुधिर-हीन रोगी शरीरके गोरेपनको स्त्रीका स्वास्थ्य, उसकी शिथिलता तथा सत्वहीनताको उसकी नज़ाकत और उसको दुर्बलता तथा कायरताको उसका सौन्दर्य कहा जाता है। प्रत्यक्ष अनुभवको कोरे तर्क और वितण्डावादसे असत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की जाती है। पति-पत्नीका प्रेम पारस्परिक सम्बन्धका विषय है। पति यदि घरमें बन्द रहने वाली पत्नी पर भी किसी प्रकारका कुछ सन्देह करता है, तो पत्नीको भी चारों ओर स्वच्छन्द विचरने वाले पति पर वैसा ही सन्देह करनेकी गुञ्जाइश या कारण क्यों नहीं हो सकता ? निसन्देह, प्रेम अंधा होता है। यह सम्भव है कि उस प्रेमके अतिरेकमें पुरुष अपनी स्त्रीको मोहवश दूसरोंकी दृष्टिसे छिपा कर रखना चाहे, किन्तु यदि स्त्रीकी ओरसे भी ऐसे ही प्रेम और मोहका व्यवहार होने लगे, तो पुरुष घबरा उठेगा। वह उस प्रेम और मोहसे छुटकारा पानेको छटपटाने लगेगा। यह प्रेमका वह अत्याचार है, जो स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये ही अनिष्टकर है। जिस घरमें सन्देहका ऐसा वातावरण या प्रेम अथवा मोहके

अतिरेकका ऐसा व्यापार चौवीसों घण्टे बराबर बना रहता है, वहां सच्चा प्रेम पनप नहीं सकता। सन्देह और बलात्कारका विषय प्रेम नहीं है, वह तो समता तथा समानताका विषय है। 'सखी' कह कर जिसको अपनाया जाता है, उसको सखी रूपमें ही रख कर उसके साथ प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ किया जा सकता है। भोग विलासका जीवन प्रेमका जीवन नहीं है और न कामातुरता ही प्रेम है। इसी जीवनने स्त्रीको पुरुषके भोगकी सामग्री बनाया है। परदा-विरोधी-आन्दोलन इसका अन्त कर देना चाहता है।

प्रकृतिने, निस्सन्देह, स्त्री और पुरुषकी रचनामें कुछ स्वाभाविक भेद रखा है। समाजकी रचना करनेवालोंने भी स्त्री-पुरुष के व्यवहार और काम-काजमें भेद कर दिया है। हिन्दू-समाज में गृहस्थकी आन्तरिक व्यवस्था एकके सिपुर्द की गई है और दूसरे पर बाहरकी जिम्मेवारी डाली गई है। दोनोंका कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न होनेपर भी पारस्परिक सहयोग, सद्भाव और समता एवं समानताके बिना समाजकी व्यवस्था कायम नहीं रह सकती और गृहस्थका कार्य सुचारु रुपमें नहीं निभ सकता। सभ्यता एवं शिष्टाचारकी दृष्टिसे दोनोंको ही कपड़ेसे अपने शरीरका कुछ भाग ढककर रखना चाहिये। उससे अधिक जो विधान या बन्धन केवल स्त्रियोंके लिये बनाये गये हैं, वे पुरुषोंके अन्यायपूर्ण स्वार्थकी रक्षाके लिये बनाये गये हैं। वे स्त्री जातिके ऊपर पुरुषके नृशंसतापूर्ण शासनकी निशानी हैं। उनका समर्थन तर्क, युक्ति, प्रमाण अथवा विवेकसे नहीं किया जा सकता। उन सब बन्धनों और विधानोंके साथ परदा-प्रथाको अविलम्ब दूर करना स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये अभीष्ठ और हितकर है।

क्रान्तिका सन्देश

"मानव-समाजके उद्धारके लिये समय-समय पर इस देश और दूसरे देशोंमें भी महापुरुष पैदा होते रहते हैं। ऐसे महा-पुरुषोंको लोग अवतार कहते हैं। इन अवतारी पुरुषोंकी अपेक्षा वह भावना अधिक बड़ी होती है, जिसको वे अपने जीवनों द्वारा कर दिखाते हैं। इसलिये इस युगमें जबकि मनुष्योंकी पूजाका अन्त हो चुका है, तब वे भावनायें ही अवतार हैं, जो मानव-समाजके सुधारके लिये उन महापुरुषों द्वारा प्रकट की जाती हैं। इस समयकी अवतारी भावना है 'सामाजिक-समता।' आइये, इस भावना रूप अवतारके सन्देशको हम सुनें और उसके द्वारा होनेवाली अवश्यम्भावी सामाजिक-क्रान्तिके उपयुक्त साधन बनें, जिससे समाजका कायापलट हो और यह संसार मनुष्योंके निवासके लिये अधिक उपयुक्त बन जाय। सनातन-धर्मके नामपर और प्राचीन रीति-रिवाज तथा वंश परम्पराका बहाना करते हुए हमने अपने करोड़ों भाई-बहिनोंको पैरों तले जान-बूझकर दबाया है और उनको उन्नति, प्रगति तथा विकासके सब साधनों, अवसरों तथा सहूलियतोंसे बंचित रखनेमें अत्याचारकी पराकाष्ठा कर दी है। इस परिस्थितिको समझना चाहिये और दूसरोंकी मनुष्यता-को नष्ट करनेवाले धर्म तथा धार्मिक विश्वासको एकदम मिटाकर हमें आत्मशुद्धि करनी चाहिये। यह 'क्रान्ति' युग है। कल्प-

नातीत वेगके साथ क्रान्तिका चक्र घूम रहा है। समाज-सुधार के मार्गपर धीरे-धीरे आगे बढ़ा जाय या एकदम लपक कर उसको पूरा किया जाय, यह प्रश्न आज बहस और सहूलियतसे परे जा पहुंचा है। अब तो यही प्रश्न हमारे सामने है कि क्या हम इसी प्रकार कीड़े-मकोरोंकी मौत मरेंगे या सम्मान पूर्वक जीवित रहनेके लिये कुछ उद्योग करेंगे। सम्मान पूर्वक जीवित रहनेके लिये पीछेकी ओर घसीटने वाले सामाजिक तथा धार्मिक बन्धनोंको एक दम तोड़ना ही पड़ेगा। जिनको महापुरुष या अवतार मानकर आज कल पूजा जाता है, वे सब अपने-अपने समयमें ऐसी ही क्रांतिके सन्देश-वाहक थे। ढ़ाई हजार वर्ष पहिले गौतम बुद्धने ऐसी ही क्रांतिका चक्र घुमाया था। सामाजिक-समताकी स्थापनाके लिये उन्होंने जात-पातकी विषमता और पण्डों-पण्डितों तथा पुजारियों-पुरहितोंके गुरुडमके विरुद्ध विद्रोह किया था। ईसा और मुहम्मद भी इसी क्रान्तिके देवदूत थे। भूतकालीन बड़ाईके सच्चे या झूठे सुर अलापने छोड़ कर वर्त-मान समयकी लज्जापूर्ण स्थितिपर हमको कुछ गहरा विचार करना चाहिये और उसको बदलनेके लिये उसी क्रान्तिके मार्गका तत्काल अवलम्बन करना चाहिये।"

समाज-सुधारकोंकी महत्वाकांक्षा और सामाजिक-क्रान्तिके सन्देशको प्रकट करनेके लिये युवक-सम्राट् पण्डित जवाहरलालजी-नेहरूके ऊपरके शब्दोंसे अधिक सुन्दर शब्द सहजमें नहीं मिल सकते। स्त्री-समाजकी आंखोंपर ही नहीं, किन्तु उनके दिल और दिमागपर भी परदा डालकर हमने अपने चारों ओर जिस पापपूर्ण और लज्जास्पद स्थितिको पैदा कर लिया है, उससे अधिक

पापपूर्ण और लज्जास्पद स्थितिकी कल्पना करना कठिन है। आश्चर्य यह है कि सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तिके इस युगमें भी हम उसको धर्म तथा परम्पराके नामपर वैसी ही बनाइये रखनेका हठ तथा दुराग्रह कर रहे हैं। 'क्रान्ति' बिना किसी या कारण नियमके अचानक ही नहीं हो जाती। मनुष्यकी मृत्युके समान उसका एक नियम है और कुछ कारण भी। मनुष्यकी मृत्यु कब होती है जब कि बीमारी, वृद्धावस्था या किसी अन्य दुर्घटनाके कारण यह देह आत्माके अनुकूल नहीं रहता। राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तियां तब होती हैं, जब समाजकी आत्मा तो बदल जाती है, किन्तु शरीर नहीं बदलता। सोचने समझनेकी शक्ति उसमें पैदा हो जाती है, बाहरकी परिस्थिति उसको काममें लानेकी स्वतन्त्रता नहीं देती। मानसिक भावना और विचारोंकी शक्ति बहुत जबरदस्त है। उसको दबाना असम्भव है। मानसिक भावनाके अनुसार मनुष्यके विचार बनते हैं और विचारोंके अनुसार वह कार्य करता है। विचारों और कार्यमें जब तक अनुकूलता बनी रहती है, तब तक गाड़ी चलती रहती है। प्रतिकूलता उत्पन्न होते ही रगड़ होकर संघर्ष पैदा हो जाता है। इसी संघर्षका नाम है—'क्रान्ति।' जब तक सर्वसाधारण राजाको परमेश्वर मानकर पूजते रहते हैं, तब तक वे उसके सब अन्याय, पाप, अत्याचार तथा अनाचारको सहन करते रहते हैं और उनका एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन बिना किसी विघ्न-बाधा-विरोधके बना रहता है। जनमतके जागृत होनेके बाद जब क्रान्तिका चक्र पूरे वेगके साथ घूमने लगता है, तब स्वेच्छाचारी शासकोंके अजेय जान पड़ने वाले शासन-

सत्ताके दुर्ग मिट्टीके खिलौनोंसे भी अधिक जल्दी टूट जाते हैं। युरोपके प्रथम महायुद्धके वाद प्रजातन्त्रवादकी भावनाके जोर पकड़ने पर युरोपके कितने ही राजाओंको वंश-परम्परागत राजगद्दीका त्याग कर अपने देशसे भी निर्वासित होना पड़ा है। रूसका क्रूर ज़ारवंश मिट गया, टर्कीके खलीफा-सुलतान उठ गये और इटली-स्पेन-आष्ट्रिया-यूनान आदि सभी देशोंमें एकतन्त्र सत्ताका अस्त हो गया। राजनीतिक क्रान्तिके सम्मुख एक तन्त्र सत्ताका वना रहना असम्भव हो गया। धार्मिक और सामाजिक सत्तायें भी तब इसी प्रकार मिट जाती हैं, जब लोकमत जागृत होकर प्रवल हो उठता है। रोमके पोपकी धार्मिक तथा सामाजिक सत्ता किसी स्वेच्छाचारी शासकसे कम प्रवल नहीं थी। वड़े-बड़े शासकों और सम्राटों पर उसका आतङ्क छाया हुआ था। वे उससे थर-थर कांपते थे। उसकी आज्ञाकी अवज्ञा करना उनके लिये संभव नहीं था। ईश्वरके वाद संसारमें उसीका स्थान था। उसके शब्द ईश्वर के आदेश समझे जाते थे। मार्टिन लूथरने युरोपमें विचार-क्रान्ति को जन्म दिया, उसकी उस सत्ता पर वड़ी गहरी चोट की और उसकी जड़ें हिला दी। लूथरके वाद युरोपमें अनेक स्वतन्त्र-विचारक पैदा हुए, जिन्होंने लोगोंके दिल और दिमाग वदल दिये। टर्कीमें राज नीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति कुछ ऐसी प्रचण्ड और चहुंमुखी हुई है कि उसकी समूची काया ही पलट गई है। स्त्रियों-की पराधीनता, हीनता तथा दीनताके सूचक 'हरम'के दरवाजे तोड़ डाले गये, 'बुर्का' फाड़ डाला गया और अन्यायसूचक तथा पापमूलक सब विधानोंको चुन-चुन कर मिटा दिया गया। इस प्रकार वीरवर कमालपाशाने समाज-सुधारका महान् आदर्श

उपस्थित कर जिस नवीन टर्कीका निर्माण किया है, उसके इतिहासका अनुशीलन और मनन प्रत्येक समाज-सुधारकको करना चाहिये। टर्कीके इस कायापलटने मिश्र, अरब, ईरान, मुरक्को, सीरिया, ईराक़ और बालकन राष्ट्रोंमें भी चैतन्यता पैदा कर दिया है।

भारतमें भी इस क्रान्तिकी चिनगारियां फैल रही हैं। 'परदा-विरोधी-आन्दोलन' चहुंमुखी समाजिक तथा धार्मिक क्रान्तिके व्यापक रूपकी केवल एक छाया है, स्वतन्त्रताके व्यापक आन्दोलनका केवल पहलू है। अपने देशके मूक-महिला-समाजके हृदयोंमें सोयी हुई स्वतन्त्रताकी भावना जागना ही इस आन्दोलन का एक मात्र लक्ष्य और निश्चित ध्येय है। उनका व्यक्तित्व जब जाग उठेगा और जब वे अपने मनुष्यत्वको अनुभव करने लगेंगी तब उनके अन्दर और बाहरकी गुलामी अपनी मौत आप मर जायगी; तब वे समझने लगेंगी कि उनके जीवनका भी कुछ अर्थ और महत्व है, तब उनको पाशविक और पैशाचिक प्रथाओं-में जकड़ रखना असम्भव हो जायगा; तब केवल उनके लिये बनाये गये अन्यायमूलक सब नियम-बंधन और विधान मिट जायेंगे; तब उनमें कण्टकाकीर्ण मार्ग पर भी अग्रसर होनेकी वेगवती इच्छा भर जायगी और आत्मविश्वासकी अलौकिक स्फूर्ति पैदा हो जायगी। बस, यही उनकी मुक्तिका मार्ग है। स्त्री-समाजको सचेत कर इसी मार्ग पर खड़ा कर देना इस आन्दोलनका उद्देश्य है। जिस दिन मुक्तिकी भावना, स्वतन्त्रताकी उमंग और सामाजिक क्रान्तिकी लहर उनके हृदयोंमें लहरायेगी, उसी दिन उनकी सामाजिक गुलामी मिट जायेगी और स्त्री-पुरुषमें भेद पैदा करने वाली सामाजिक विषमता नष्ट

हो जायेगी। उसी दिन पुरोहितों और पण्डों तथा पुजारियों और महन्तोंके मायाजालसे, और अपने स्वार्थवश स्त्रियोंको सदा ही गुलाम बनाये रखनेकी चेष्टामें लगे हुए पुरुषोंके अन्यायपूर्ण शासनसे स्त्री-समाजका उद्धार हो जायगा। परदा-विरोधी-आन्दोलनका यही ध्येय है। इसीके सम्पादन करनेमें समाज-सुधारक लगे हुए हैं। जातीय-निर्माण और राष्ट्रीय संगठनके व्यापक कार्यक्रमका एक विशेष अङ्ग परदा निवारक-आन्दोलन है। इसके द्वारा देश, जाति एवं राष्ट्रकी समस्त शक्तिका केन्द्रीकरण सहजमें किया जा सकता है और बिखरे हुए जातीय अवयवोंको एक सूत्रमें पिरोया जा सकता है। इसकी सफलताकी दृढ़ नींव पर ही जातीय-निर्माण और राष्ट्रीय संगठनकी आधार-शिला स्थिरताके साथ स्थापित की जा सकती है।

पश्चिमीय देशोंकी महिलाओंके आन्दोलनकी सफलताका यही रहस्य है कि उन देशोंके पुरुषोंने यह भली प्रकार अनुभव कर लिया है कि स्त्रियोंके सहयोगके बिना वे उन्नतिके शिखर पर आरुढ़ नहीं रह सकते। जिन स्वतन्त्र विचारकोंके मतका ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्होंने विचार-स्वातन्त्र्यके साथ-साथ स्त्रियोंके प्रति होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहारकी भी घोर निन्दा की है। इटलीके निर्माता महात्मा मेजिनीने मनुष्यके कर्तव्यका उपदेश देते हुए अपने देश-वासियोंसे कहा था—"स्त्रियोंके ऊपर अपने श्रेष्ठत्वके प्रत्येक विचार को तुम अपने दिमागसे निकाल कर बाहर फेंक दो। तुममें किसी प्रकारकी भी श्रेष्ठता नहीं है। दीर्घ कालके पक्षपात, निकम्मी शिक्षा, व्यवहारिक असमता और पुरातन अन्यायके मेलसे स्त्रियोंमें एक प्रकारकी मानसिक हीनता

पैदा कर दी गई है। इस दिखावटी हीनता को ही पुरुषने अपने अत्याचार एवं अन्यायको निरन्तर बनाये रखनेके लिये एक दलील बना लिया है। क्या प्रत्येक अत्याचारका इतिहास हमको यह नहीं सिखाता कि अत्याचारी स्वयं अपनी ही पैदा की हुई चीजको अपने अत्याचारके लिये बढ़ाता या दलील बना लेता है। हम पुरुष सदासे स्त्रियोंके प्रति इस प्रकारके अपराधके दोषी रहे हैं और अब भी हैं। इस अपराधकी छाया या उसके आभास से भी बचें। परमात्माकी दृष्टिमें इससे बड़ा अपराध और कोई नहीं है, क्योंकि यह एक मानव कुटुम्बके दो टुकड़े कर डालता है और एकके ऊपर दूसरेके शासनको कायम करता अथवा उसे स्वीकार करता है। स्त्रियोंको न केवल अपने सुख-दुःखकी, किन्तु अपने विचारों, अपनी आकांक्षाओं, अपने स्वाध्याय और समाज-सुधारके प्रयत्नोंकी भी एक-एक हिस्सेदार और साथी बनाओ। अपने राजनीतिक और नागरिक जीवनमें उनको अपने समान समझो। तुम दोनों दो मानवी पंख बन जाओ, जो तुम दोनोंको ही उस आदर्शकी ओर बढ़ा ले जांय, जिस तक पहुंचना हम सबके जीवनका लक्ष्य है।" इसी प्रकार रस्किनने स्त्री-पुरुषके पारस्परिक-सम्बन्धका विवेचन करते हुए स्त्रियोंको हीन दृष्टिसे देखने वालोंको सम्बोधन करके कहा था—"हम मूर्ख हैं और निस्सन्देह मूर्ख हैं, जो एक वर्गको दूसरेकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ या उन्नत समझते हैं। प्रत्येकमें अपनी-अपनी ऐसी विशेषतायें है, जो दूसरे में नहीं हैं। दोनों अपने आपमें अपूर्ण हैं और दूसरेकी अपूर्णताको पूरा करने वाले है। दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। किसी बातमें कोई एक दूसरेका मुकाबला

नहीं कर सकता। कोई किसीको किसी बातमें नीचा नहीं दिखा सकता। दोनोंकी पूर्णता और प्रसन्नता परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है, क्योंकि पुरुषकी कमीको केवल स्त्री और स्त्रीकी कमीको केवल पुरुष पूरा कर सकता है। उसके लिये दोनोंको ही एक-दूसरेकी अपेक्षा रखनी चाहिये।" स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रवादके कट्टर समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिलने स्त्रियोंकी पराधीनताके विरुद्ध तुमुल आन्दोलन किया था और पार्लमेण्ट-भवनको भी उनकी स्वतन्त्रताके नादसे गुंजा दिया था। इन महापुरुषोंके आदेश तथा उपदेश और उनके द्वारा किये गये आन्दोलनके बाद भी इङ्गलैण्ड और अमेरिकाकी स्त्रियोंको पुरुषोंके समान मताधिकारकी प्राप्तिके लिये विशेष आन्दोलन करनेको मजबूर होना पड़ा और इङ्गलैण्डमें उस आन्दोलनने भयानक संघर्षका रूप धारण कर लिया। इङ्गलैण्ड और अमेरिकाकी स्त्रियोंने मताधिकारकी प्राप्तके लिये कोई बात उठा नहीं रखी। लगभग पौन शताब्दी तक दोनों देशोंमें वह आन्दोलन जारी रहा। जिस यत्नमें इतने वर्षोंके निरन्तर आन्दोलन पर भी सफलता प्राप्त नहीं हुई थी, उसमें युद्धके बाद १९१७ में बिना आन्दोलनके सफलता प्राप्त हो गई। पूर्व देशोंमें चीनकी महिलाओंने इङ्गलैण्ड और अमेरिकाकी महिलाओंके समान मताधिकारके लिये आन्दोलन किया था। उनको भी अपने आन्दोलनमें सफलता तब प्राप्त हो सकी, जब १९११ की क्रान्तिमें उन्होंने देश-सेवाके मैदानमें पदार्पण कर अपने साहस, वीरता, त्याग और कार्य क्षमताका अपूर्व परिचय दिया। टर्की और रूसकी राज-क्रान्तियोंके बाद स्त्रियोंको सहजमें समता और समानताका दर्जा इसी लिये प्राप्त हो गया कि टर्कीके क्रान्तिकारी 'यंग टर्क्स' और

रूसके क्रांतिकारी 'साम्यवादी' स्त्रियोंके सहयोगका चमत्कार अपनी आँखों क्रान्तिके दिनोंमें देख चुके थे। १९३० और १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलनोंमें स्त्रियोंकी शक्ति और सहयोगका परिचय प्राप्त करनेके बाद भी इस देशके निवासी यदि स्त्रियोंको परदेमें कैद रखनेका हठ करते हैं, तो वे स्वयं उस संघर्षको आमन्त्रित कर रहे हैं, जिसको समाज-सुधारक टालना चाहते हैं। वैसे यह कुछ कम आशाजनक नहीं है कि भारतीय महिलाओंने भी अन्य देशोंकी महिलाओंके समान त्याग,तपस्या, सेवा तथा आत्मोत्सर्गके मार्गका अवलम्बन किया है और इस प्रकार उन्होंने अनुदार लोगोंकी भी सहानुभूति प्राप्त की है, वे भी उनके सहयोग की कीमतको समझने लगे हैं और उनकी प्रगति तथा जागृतिका विरोध स्वयं मिटता जा रहा है।

भविष्यके आशाजनक और परिस्थितिके अनुकूल होने पर भी परदा-निवारक-आन्दोलनकी सफलता अधिकतर देशके नवयुवकों पर निर्भर है। वे देश, जाति तथा समाजकी आशा हैं। राष्ट्रका भविष्य उनके हाथोंमें है। नवयुवकोंके आन्दोलन और सङ्गठनको लक्ष्य करके देशभक्त सुभासचन्द्रबोसने जो शब्द कहे थे, वे नवयुवकों को सदा स्मरण रखने चाहिये। उन्होंने कहा था—"केवल युवक और युवतियोंके एक स्थान पर इकठ्ठा हो जानेसे कोई युवक-संस्था नहीं बन जाती। उसके लिये आवश्यक है कि युवकोंके हृदयमें वर्तमान अवस्थाके प्रति भीषण असन्तोषकी भयानक आग सुलग रही हो, अच्छी अवस्था प्राप्त करनेके लिये उनमें तीव्र भावना तथा उत्कट अभिलाषा पैदा हो चुकी हो और उसकी स्पष्ट रूप-रेखा उन्होंने अपने सामने अङ्कित कर ली हो। युवकोंके

संगठन और आन्दोलन सुधारक नहीं होते, क्रान्तिकारी होते हैं। इस लिये उनके एक-एक कार्यसे उतावलापन और विक्षोभ प्रगट होना चाहिये।" पण्डित जवाहरलालजी नेहरूने भी युवकोंसे आशा रखते हुए कहा था – "दुःखपूर्ण और चिन्ताजनक अवस्थामें युवकोंकी जागृति और उनके विद्रोहसे अधिक आशाजनक कोई और बात नहीं है। समझौता और सुलह वगैरः का मार्ग बूढ़ोंके लिये है। युवकोंको अनन्त भविष्यका ध्यान रखकर सोचना और कार्य करना चाहिये। क्षणिक हानि-लाभकी परवाह उनको कदापि न होनी चाहिये। बूढ़ोंकी दृष्टि इतनी क्षीण हो गई है कि वे अपनी नाककी नोकसे परे देख सही सकते। टूटे-फूटे झोंपड़ों पर शानदार महलकी नींव नहीं डाली जा सकती। इस लिये युवकोंको सदा विद्रोह वृत्तिसे काम लेना चाहिये और स्वाधीन समाजके भविष्यकी इमारतकी नींव जमीनको पूरी तरह साफ करनेके बाद डालनी चाहिये।" देशके भविष्यकी इतनी महान् आशाका केन्द्र होनेपर भी आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय युवकों से बुरी तरह निराश हैं। उनके वृद्ध हृदयमें सदा युवक-भावना समाई रहती है। इसीसे अपने भाषणों और लेखों द्वारा वे युवकों को जगानेमें लगे रहते हैं। उन्होंने अपने एक भाषणमें बङ्गालके युवकोंके सामने चीनके युवकोंका आदर्श उपस्थित करते हुए कहा था—"यह बहुत दुःखकी बात है कि भारतीय युवक विशेषतः विद्यार्थी समाज सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकी बातोंमें अत्यन्त उदासीन है। युवक-सम्मेलनोंमें पूर्णस्वतंत्रताका प्रस्ताव पास करने वाले विद्यार्थी अपने विवाहमें दहेज और ठहरौनी सरीखी कुत्सित प्रथाओंके पालन करने-करानेमें साथ ही नहीं देते, किन्तु उनकेलिए

हठ और दुराग्रह भी करते हैं। व्यावहारिक-जीवनमें पूर्ण-स्वतंत्रताके प्रेम और रुचिका इस प्रकार परिचय देते हुए वे लज्जित भी नहीं होते। बंगालके प्रत्येक विवाहित युवकका हाथ देवी स्नेहलताके खून में सना हुआ है। युवक-समाजको उसके लिए लज्जा अनुभव करनी चाहिये।" देवी स्नेहलताके समान भारतकी समस्त नारी जाति ही परम्परागत सामाजिक कुप्रथाओं, अन्यान्यपूर्ण सामाजिक बन्धनों और स्वार्थजन्य धार्मिक अन्धविश्वासोंका शिकार होकर अकालका ग्रास हो रही हैं। बंगालके विवाहित युवकोंके हाथ जैसे स्नेहलताके खूनमें सने हुए हैं, वैसे ही देशके समस्त विवाहित युवकोंके माथेपर नारी-समाजकी इस अकाल हत्याका भारी कलङ्क लगा हुआ है। निस्सन्देह, उनके लिये यह लज्जाकी बात है कि वे सिर नीचा कर अन्तरात्माकी हत्या कर रूढ़ि-परम्परा, रीति-रिवाज और अन्ध-विश्वासका सब व्यवहार सहन करते रहते हैं। इस कलङ्क और लज्जाको दूर करनेके लिये उनको चाहिये कि वे अपनी आत्मामें सोई हुई विद्रोही वृत्तिको जगाकर गरजते हुए शेरकी तरह उठ खड़े हों। जिस सामाजिक-क्रान्तिने टर्की, रूस, चीन तथा जापान आदि देशोंका देखते ही देखते काया पलट कर दिया है और इस देशमें भी जिसकी चिंगारिया फैल रही है, उसकी आगको देशके कोने-कोनेमें सुलगा दें, जिससे उसकी भयानक लपटोंमें सब सामाजिक तथा धार्मिक विषमता जल जाय ; रूढ़ि-परम्परा, रीति रिवाज तथा मिथ्या-विश्वास सबके सब राख हो जांय ; उनकी ही नहीं, किन्तु सारे ही देशकी लज्जा तथा कलङ्कका उसमें होम हो जाय और अपना देश भी अन्य उन्नत, समृद्ध तथा स्वतन्त्र देशोंके समान प्रगतिशील होकर अभ्युदयके शिखर पर जा पहुंचे।"

विश्ववन्द्य महात्मा गान्धीके विचारोंके साथ इस प्रकरणको समाप्त करना उचित होगा। उनके ये विचार हमारे लिये प्रकाश स्तम्भ का काम देने वाले हैं। स्त्री-पुरुषके पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य का विवेचन करते हुए गान्धीजी ने कहा है कि "मेरा यह दृढ़ विचार है कि स्त्री और पुरुषका भेद वाह्य भेद है। स्त्री और पुरुषकी आकृति भिन्न-भिन्न है। पर, जीवनका अन्त होकर शरीरकी जो राख बन जाती है, उसमें भेद बतानेवाला वैज्ञानिक आजतक नहीं जन्मा है। इस दृष्टिसे उसमें वास्तविक भेद कुछ भी नहीं है। मनुष्यत्वके नाते दोनोंका ध्येय भी एक ही होना चाहिये। स्त्रीका कर्तव्य उसका गृहधर्म है। पुरुषने यह कार्य कभी नहीं किया। वह तो रक्षाके लिए किले और कोट बना कर बैठ गया है। वह घरकी क्या रक्षा करेगा? वह तो घरमें भी किले और कोट ही बनायेगा। घरकी दिवारोंमें भी गोली दागनेको छेद बनायेगा और उनपर कांच तथा कीले गाड़ेगा, जिन पर चढ़ कर अन्तमें घरके बच्चे ही मर मिटेंगे। पर; हमको तो घरकी शोभा बढ़ानी है। इसका यह अर्थ नहीं कि एकका काम बुरा और दूसरेका अच्छा है। नहीं; दोनोंके काम एक-दूसरेके कामके पूरक हैं। धर्मके रूपमें पत्नी सहचारिणी है, अर्धाङ्गिनी है। दोनों मिलकर एक अङ्ग बनते है। जो अधिकार पतिको प्राप्त हैं, वे सब पत्नीको भी प्राप्त हैं। एक दूसरेके अधिकारोंमें न्यूनाधिकता नहीं है। यदि स्त्री पतलून तथा कमीज पहिन, कन्धे पर बन्दूक रख; घूमने निकले, तो पुरुषको अधिकार नहीं कि उसको रोके। ऐसे कामोंको करनेका जितना अधिकार पुरुषको है, उतना ही स्त्रीको भी है। स्त्री यदि सिनेमा न जाना चाहे, तो पुरुष उस-

को जानेके लिये बाध्य नहीं कर सकता और यदि वह अकेली जाना चाहे, तो उसको रोक भी नहीं सकता। पर, तो भी जो कार्य दोनों मिलकर कर सकते हैं, उनमें परस्पर जितना सहयोग वे कर सकें, उतना ही अच्छा है। यह सहयोग एकांगी चीज नहीं है। इसका कोई नपा-तुला प्रमाण भी नहीं हो सकता। मेरी विचार-सृष्टिमें इस प्रकारके विचारोकों कोई स्थान नहीं है कि पुरुष अपने को स्वामी समझे और स्त्रीको अपनी सम्पत्ति—और उसको यह कहे कि मैं जिस रास्ते चलूं, तुम उसी रास्ते चलो। पुरुषके ऐसे अधिकारों और व्यवहारके विरोधका अस्त्र सत्याग्रह है। स्त्रियां उसका उपयोग कर सकती हैं। पर, यह वह तलवार है जो इक-धारी भी है दुधारी भी। प्रेमके इस बलके सामने बिना हारे पुरुषका कहीं निस्तार नहीं। जिसे पतिके सामने अपना व्यक्तित्व सिद्ध ही करना हो, उसे मैं प्रेमका, सत्याग्रहका यह मार्ग बता सकता हूं। लेकिन प्रीतम कविके शब्दोंमें यह प्रेम पावककी ज्वाला है, जिसमें उसे चलना पड़ेगा, जूते पहिन कर नहीं, किन्तु नंगे पैरों।'

एक और महात्माने ऊपरके भावको इन थोड़ेसे शब्दोंमें कहा है कि "स्त्रियोंका मातृ-प्रेम पुरुषको यह कहनेके लिये मजबूर करता है कि वे घरकी देवी बनी रहें और मैं उनको पूजा करूँ। पुरुषों का स्त्रियोंके प्रति अत्याचार मुझे स्त्रियोंको यह सलाह देनेके लिये मजबूर करता है कि वे सबला बनें और अत्याचारोंका जवाब न दें तो मुकाबला तो कर सकें।"

महात्मा गान्धीने बार-बार हरिजन-सेवाके आन्दोलनको उच्च वर्णके लोगोंके लिये आत्म-शुद्धि और प्रायश्चित्तका आन्दोलन बताया है। वस्तुतः समाज-सुधारका सब आन्दोलन ही वैसा है।

पाप तथा अन्यायका प्रक्षालन करके मनुष्य अपनी ही शुद्धि करता है और वह शुद्धि ही सच्चा प्रायश्चित्त है। स्त्री जातिके प्रति किये जाने वाले पाप तथा अन्यायको समूल नष्ट करके पुरुषोंको आत्म-शुद्धिके लिये प्रेरित करना ही परदा-निवारक-आन्दोलनका स्पष्ट और निश्चित ध्येय है। इस लिये परदा-निवारक-आन्दोलनका, उन सभी पुरुषोंसे, जों स्त्रियोंको पराधीन तथा असहाय बना कर परदेमें कैद किये हुए हैं यह सीधा प्रश्न है कि क्या वे उनको समता तथा समानताके सब अधिकार देकर आत्म-शुद्धि तथा प्रायश्चित्तके इस आन्दोलनको स्वेच्छासे सफल बनायेंगे अथवा उन को अत्याचार एवं अन्यायका मुकाबला करनेके लिये सत्याग्रह अथवा किसी दूसरे मार्गका अवलम्बन करनेके लिये मजबूर करेंगे?

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु महोदयके ये शब्द प्रत्येक समाज-सुधारकको अपने हृदय पर लिख देने चाहियें कि "एक निष्ठासे प्रयत्न करनेपर सफल न होनेवाला क्या कोई कार्य इस जगत में है? ऐसी भाषा तो बोलनी ही नहीं चाहिये कि 'मैं प्रयत्न करके देखूंगा।' परिस्थितिसे घबराना मनुष्यका काम नहीं है। प्रतिकूल परिस्थितिमें भी जूझकर सफलता प्राप्त करनेके उद्योगमें सदा लगे रहना चाहिये। अपने कर्तव्य-कर्मका निर्णय करके पूरी दृढ़ताके साथ कार्यमें लग जानेके बाद ऐसा कोई संकट नहीं, जिसपर विजय प्राप्त न की जा सके। अपनेमें सदा यह आत्म-विश्वास होना चाहिये कि मैं यह कार्य अवश्य करूंगा।" परदा-निवारक-आन्दोलनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये ऐसे आत्म-विश्वासकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति इस समयका युग-धर्म है। वह भारतमें भी प्रकट हो चुका है। विचार-क्रान्तिके बीज इस देशमें बखेरे जा चुके हैं। वे जमीनमें जड़ें पकड़ चुके हैं। उनका अंकुर फूटनेको है। वह दिन भी दूर नहीं हैं जिस दिन छोटा-सा पौदा आकाशमें सिर ऊँचा उठाकर निरन्तर बढ़ता चला जायगा और थोड़े ही दिनोंमें बटवृक्षका विशाल रूप धारण कर सारे देशमें चारों ओर छा जायगा। आलसी मनुष्य सबेरा हो जानेपर भी चादर तानकर पड़ा रहता है, सूर्यकी किरणें उसकी प्रतीक्षामें सिमटी नहीं रहतीं। मनुष्यकी आत्मा प्रगतिशील है। अज्ञानता और परिस्थितिका मैल उसकी प्रगतिके प्रभावको रोक देता है, राखके तले दबी हुई आग हवाका एक झोंका आते ही धधक उठती है। मनुष्यकी आत्मा पर चढ़ा हुआ मैल क्रान्तिकी पहली ही लहरमें दूर हो जाता है और उसका स्वाभाविक धर्म उस आगकी तरह जाग उठता है। क्रान्ति अपना काम पूरा कर जाती है। परदा निवारक-आन्दोलन चहुंमुखी क्रान्तिका एक अंग है। इसलिये उसकी सफलता निश्चित और अवश्यम्भावी है। उसमें विलम्ब लग सकता है, किन्तु उसको टाला नहीं जा सकता